मनुष्य—जो देवता बन गये

श्री व्यथित हृदय

1991



आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली :लखनऊ

MANUSHYA—JO DEVTA BAN GAYE
by Shri Vyathit Hirdaya

प्रकाशक :
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा :
17, अशोक मार्ग, लखनऊ

ISBN : 81-7043-086-0

संस्करण : 1991

मूल्य : पैंतीस रुपये

मुद्रक :
चोपड़ा प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

दो शब्द

मनुष्य के जीवन की वास्तविक सम्पदा क्या होती है ? क्या धन, क्या यश, क्या पद और क्या नाम ? नहीं, यह सब कुछ भी नहीं होता। वास्तविक सम्पदा होती है, मनुष्य का चरित्र। चरित्र बड़ा व्यापक शब्द है, उसके भीतर अनेक गुणों का समावेश होता है, जैसे—दया, क्षमा, परोपकार, अहिंसा, समता, मातृ-भावना और पर-दुःख कातरता आदि। मनुष्य अपने इन गुणों से लोक से उठकर परलोक में भी पहुँच जाता है। लोग उसे देवता कहने लगते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ऐसे ही मनुष्यों के जीवन के चित्र हैं, जो अपने चरित्रों से ही देवता के समान वन्दनीय बन गये हैं। इन चरित्रों के पठन-पाठन से भले ही कोई देवता न बनें, पर उसके मन में चरित्र को ऊंचा उठाने की बात तो अवश्य पैदा होगी। लोग अपने चरित्र को ऊपर उठायें—इसी उद्देश्य से हम इस पुस्तक को सामने रख रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है इस पुस्तक से तरुण समाज को प्रेरणा मिलेगी।

—श्री व्यथित हृदय

क्रम

ज्ञान की खोज में

माघ का महीना था और पूर्णिमा का दिन। लुंबिनी कानन के एक उपवन में, कपिलवस्तु के नृपति-महाज शुद्धोदन की राजमहिषी, महामाया दासियों के साथ शनैः-शनैः परिभ्रमण कर रही थीं; सहसा उन्हें प्रसव वेदना हुई और वे एक वृक्ष की छाया में उसी की डाल का आश्रय ग्रहण करके खड़ी हो गईं।

बस, कल्याण की घड़ी सन्निकट आ गई और वहीं एक शिशु धरती पर अवतीर्ण हुआ।

वह बालक 'बालक' नहीं था, संसार का कल्याण था—महामंगल था। जिस समय उसने पृथ्वी पर जन्म लिया, विस्मय नहीं, कि पृथ्वी प्रसन्नता से नृत्य कर उठी होगी, और विश्व के हृदय में आनन्द का उदधि उमड़ पड़ा होगा। जानते हो वह बालक कौन था?

उसी बालक को तो आज सम्पूर्ण विश्व गौतम बुद्ध के नाम से स्मरण करता है, और अपने हृदय की श्रद्धा उसके चरणों पर बिखेरता है।

महात्मा गौतम बुद्ध एक दैवी ज्योति थे। वे संसार में मनुष्यों के कल्याण के लिए आविर्भूत हुए थे। उनके जन्म के पूर्व हमारे देश में ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व में युद्ध, हिंसा, लूट और हत्या का बोल-बाला था। मनुष्य, मनुष्य से घृणा करता था। चतुर्दिक

दुःख और अशान्ति का राज्य था। पर उन्होंने अपनी दया, अहिंसा, समता और सत्य से विश्व के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। उनके उपदेशों से हमारा देश ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व शताब्दियों के लिए स्वर्ग बन गया—परम पावन हो गया।

गौतम बुद्ध बाल्यावस्था में ही अधिक दयालु थे। दूसरों का दुःख देखकर बाल्यावस्था में ही उनकी आंखें करुणा की उज्ज्वल मुक्ताओं से परिपूर्ण हो उठती थीं। वे दया और करुणा की प्रतिमूर्ति से ज्ञात होते थे।

बाल्यावस्था की ही बात है, एक दिन वे अपने ममेरे बंधु देवदत्त के साथ उपवन में बाल-क्रीड़ा कर रहे थे। देवदत्त ने आकाश की ओर देखा—हंसों का एक दल वायु की तरंगों में पंख मारता हुआ उड़ा जा रहा था। देवदत्त ने धनुष पर बाण चढ़ाकर चला दिया।

बाण एक हंस की पीठ में लगा और वह पृथ्वी पर गिरकर यंत्रणा से तड़पने लगा।

गौतम बुद्ध ने, जिनका बाल्यावस्था में सिद्धार्थ नाम था, दौड़ कर आहत हंस को अपने अंक में उठा लिया। बाण निकाल कर फेंक दिया, और वे इस प्रकार करुणा से कातर हो उठे, मानो वह बाण उन्हीं की पीठ में प्रविष्ट हुआ हो।

इतना ही नहीं, वे उस हंस को घर ले गए, और अपने स्वजन की भांति ही उसकी चिकित्सा कराई। इसी प्रकार की अनेक कहानियां उनकी दयालुता के सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। वे वस्तुतः दया के अवतार थे। अपने साथ दया और करुणा लेकर वे पृथ्वी पर आये थे, और दया तथा करुणा से मनुष्यों के हृदय को *अभिसिंचित कर पुनः पृथ्वी से चले गए।*

गौतम बुद्ध जब उत्पन्न हुए थे, एक ज्योतिषी ने उनके हाथ की रेखाओं को देखकर कहा था, "यह बालक बड़ा होने पर या तो चक्रवर्ती सम्राट होगा, या संन्यासी बनकर सम्पूर्ण विश्व को मुक्ति का मार्ग बतायेगा।"

गौतम बुद्ध जब बड़े हुए, तब वे प्रायः एकान्त में निवास करने लगे। एकान्त में बैठ कर वे प्रायः जगत के प्राणियों के दुःख पर विचार किया करते थे। आत्मा क्या है? परमात्मा क्या है? विश्व में प्राणियों को क्यों इतना दुःख मिलता है? प्राणियों को विश्व के दुखों से कैसे मुक्ति मिल सकती है?—इत्यादि प्रश्नों में ही उनका मन अनवरत उलझा रहता था। इन प्रश्नों के समक्ष उन्हें राजसी ठाट-बाट, संगीत, वाद्य और नृत्य-रंग कुछ भी अच्छा न लगता था।

गौतम बुद्धि के मन की स्थिति को देखकर महाराज शुद्धोदन को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने यशोधरा से उनका पाणिग्रहण कर दिया; और उनके निवास के लिए एक नवीन तथा सुन्दर भवन बनवा दिया, जिसमें आमोद-प्रमोद की सभी वस्तुएं एकत्र थीं।

पर गौतम बुद्ध का मन उन वस्तुओं में रंचमात्र न रमा। विवाह होने पर भी वे प्रायः संसार के दुःखों पर ही विचार किया करते थे। एक दिन वे रथारूढ़ होकर नगर में पर्यटन के लिए निकले। मार्ग में उन्हें एक वृद्ध दृष्टिगोचर हुआ उसकी पीठ झुक गई थी, और वह लकड़ी का आश्रय लेकर चल रहा था। गौतम ने अपने सारथी से पूछा, "यह कौन है? इसकी पीठ क्यों झुक गई है?"

सारथी ने उत्तर दिया—"यह एक वृद्ध है। वृद्धावस्था के कारण इसकी पीठ झुक गई।"

"क्या वृद्धावस्था सबके शरीर में आती है?"—गौतम ने

प्रश्न किया।

"हां कुमार!"—सारथी ने उत्तर दिया—"शरीर परिवर्तनों में बंधा हुआ है। उसके परिणामस्वरूप एक दिन वृद्धावस्था सबके शरीर में आती है, और सबकी पीठ इसी प्रकार झुक जाया करती है।"

गौतम के हृदय पर इस बात का अत्यधिक प्रभाव पड़ा और वे शरीर की परिवर्तनशीलता तथा उसकी क्षणभंगुरता पर सोच-विचार करने लगे। इसी प्रकार एक दिन उनकी आंखों के समक्ष एक ऐसा मनुष्य आया, जिसका शरीर कुष्ठ से विगलित हो गया था। इसी प्रकार एक दिन उन्होंने एक ऐसे भी मनुष्य को देखा, जो मर गया था, और जिसका शव लेकर लोग अंतिम संस्कार के लिए श्मशान ले जा रहे थे। एक दिन उन्होंने एक संन्यासी को भी देखा, जो गैरिक वस्त्र धारण किये हुआ था; और संसार से विरक्त होकर मुक्ति की खोज में तन्मय था।

इन घटना-चित्रों से गौतम के मन में संसार के प्रति विरक्ति जागृत हो उठी, और उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया, कि वे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर देंगे—संसार से विरक्त हो जाएंगे।

रात्रि का समय था, चारों ओर सघन अंधकार छाया हुआ था। कुमार सिद्धार्थ की आंखों में नींद नहीं। वे चुपचाप उठे और उस गृह में गये, जहां यशोधरा अपने नवजात शिशु को अंक में लिये हुए निद्रा में निमग्न थी। सिद्धार्थ ने यशोधरा को देखा, और उस शिशु को, जो अभी नवजात था; पर सिद्धार्थ के चरणों को न तो यशोधरा बांध सकी और न वह नवजात शिशु ही; सिद्धार्थ सबके मोह-रज्जुओं को तोड़कर घर से दबे पांव निकल गये।

सिद्धार्थ ने घर से बाहर निकल कर अपने सारथी को, जिसका नाम छंदक था, जगाया, और उसे अश्व लाने की आज्ञा दी। सारथी ने सिद्धार्थ के आशय को समझ कर उन्हें समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु सिद्धार्थ का निश्चय अटल था—दृढ़ था।

सिद्धार्थ अश्वारूढ़ होकर, उस अंधकारमयी रजनी में नगर से बाहर की ओर चल पड़े। उनके पीछे-पीछे उनका सारथी छंदक भी चल रहा था। जब बहुत दूर निकल गये, तब एक पर्वतीय सरिता के तट पर अश्व से नीचे उतर पड़े। उन्होंने अपने सम्पूर्ण आभूषण उतार कर छंदक को दे दिये, और उसे यह आज्ञा दी, कि अश्व लेकर नगर को लौट जाय। सिद्धार्थ की इस आज्ञा से छंदक के दुःख की सीमा न रही। किन्तु उपाय ही क्या था? वह सिद्धार्थ की आज्ञानुसार लौट गया।

छंदक के लौट जाने पर सिद्धार्थ ने तलवार से अपने बड़े-बड़े केश काट डाले; और राजसी वस्त्रों के स्थान पर फटे वस्त्र धारण कर लिये। अब वे राजकुमार से संन्यासी बन गये—बीतरागी।

गौतम संन्यासी का वेश धारण करके कई स्थानों पर गये, और उन्होंने वहां ज्ञान प्राप्त किया। अंत में वे गया पहुंचे और तपस्या में संलग्न हो गये; उन्होंने घोर तपस्या की। शरीर सूख कर कांटा हो गया; केवल अस्थियां ही अस्थियां शरीर में रह गईं, पर कुछ प्राप्त न हुआ। उन्हें इससे निराशा हुई। एक दिन वे बड़ी कठिनाई से खिसक-खिसक कर सरिता के तट पर पहुंचे और उन्होंने एक शव के कफन से अपने शरीर को ढका। तत्पश्चात् सरिता में स्नान करके गांव में सुजाता नामक एक कन्या ने उनकी बड़ी आवभगत की, और उनकी सेवा-सुश्रूषा करके उन्हें स्वस्थ बनाया।

एक दिन गौतम परिभ्रमण करते हुए एक वट वृक्ष के नीचे गये, और वहीं आसन लगाकर बैठ गये। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि चाहे उनका शरीर गल कर नष्ट हो जाए, पर वे बिना बोधि-ज्ञान प्राप्त किये हुए कदापि न उठेंगे। कहा जाता है कि गौतम के मन को विचलित करने के लिए उनके सामने अनेक विघ्नों और प्रलोभनों के चित्र आये, पर गौतम रंचमात्र भी न डिगे।

उनका ध्यान हिमालय की भांति अडिग बना-रहा—दृढ़ बना रहा।

अंत में बोधि ज्ञान की मंगलमयी घड़ी निकट आ पहुंची। वह आषाढ़ मास की पूर्णिमा की शुभ रात्रि थी। गौतम वट वृक्ष के नीचे आसन लगा कर बैठे हुए थे। सहसा उनका हृदय ज्ञान की आभा से आलोकित हो उठा, और वे ब्रह्मानन्द में विभोर हो गये। इसी समय से गौतम 'बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए और वह वृक्ष जिसके नीचे उन्हें बोधिज्ञान प्राप्त हुआ था, महाबोधि वृक्ष के नाम से संबोधित किया जाने लगा।

बोधिज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् गौतम ने अपने ज्ञान और सत्य का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। चारों ओर उनके ज्ञान का डंका बज उठा। देश-विदेश में उनकी धूम मच गई। गरीब की झोंपड़ी से लेकर बड़े-बड़े सम्राटों के राजभवनों में उनका जयनाद होने लगा। उन्होंने देखते-ही-देखते विश्व के स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। भिखारी और सम्राट, एक स्थान पर बैठने लगे। भेद-भाव मिट गया, मनो-मालिन्य जाता रहा और सारे के सारे मानव प्रेम, करुणा तथा अहिंसा के सूत्र में आबद्ध हो गये।

शान्ति का पुजारी

आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व की बात है; रोम के सम्राट् सीजर दी ग्रेट ने अपने राज्य में जनगणना का आदेश प्रचारित किया था। परिणामस्वरूप सीरियर के रूमी प्रान्त के यहूदी अपनी जन्मभूमि के लिए निकल पड़े थे। दल के दल यहूदी अपना-अपना सामान खच्चरों और घोड़ों की पीठ पर लादे हुए रोम की ओर जा रहे थे। मार्ग में सरायों में कहीं तिल धरने को भी स्थान शेष नहीं रहता था।

उन्हीं यहूदियों में एक नव-दंपति भी था, जिसमें पति का नाम यूसुफ और स्त्री का नाम मरियम था। यह दोनों भी अपनी आवश्यकता का सामान घोड़ों और खच्चरों पर लादे हुए अपनी मातृभूमि बैतलहम को जा रहे थे।

बैतलहम में प्रवासी यहूदियों की भीड़ लगी थी। सरायों में कहीं तिल धरने को भी स्थान शेष नहीं था। यूसुफ को किसी सराय में स्थान नहीं मिला। विवश होकर उसने मरियम के साथ पशुओं के निवास-स्थान में डेरा डाला।

उसी पशुशाला में रात्रि में मरियम के गर्भ से एक बालक ने जन्म लिया। जिस समय वह बालक पृथ्वी पर गिरा, आकाश एक उज्ज्वल नक्षत्र की ज्योति से प्रदीप्त हो उठा। मैदान में निवास करने वाले गड़रियों ने उस ज्योति को बड़े विस्मय के

साथ देखा, और उसे दैवी चमत्कार सम झकर प्रणाम किया।

वही बालक आज संसार में महात्मा ईसा के नाम से विख्यात है। कुछ लोगों का कथन है, कि महात्मा ईसा का जन्म दैवी प्रेरणा से हुआ था। क्योंकि जिस समय वे अपनी माता मरियम के गर्भ में आये, वह कुमारी थी। जो हो, यह तो निर्विवाद है कि महात्मा ईसा एक दैवी विभूति थे, और उन्होंने विश्व के कल्याण के लिए ही पृथ्वी पर जन्म लिया था।

महात्मा ईसा दया, प्रेम, सत्य, क्षमा, और सरलता की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने आजीवन लोगों को इन्हीं गुणों का उपदेश दिया। उनकी वाणी में अपूर्व माधुर्य और सम्मोहन शक्ति थी। जो उनकी वाणी को श्रवण करता, वह मुग्ध हो जाता था। दीन-दुःखी प्रणियों के प्रति उनके हृदय में असीम करुणा थी। सारे संसार को प्रेम से आप्लावित कर देना ही उनका उद्देश्य था। वे चाहते थे, कि विश्व से हिंसा, क्रोध, अभिमान और द्वेष आदि पाप धुल जाएं और जगत में चारों ओर प्रेम तथा आनन्द-ही-आनन्द छा जाए।

वे लोगों को उपदेश देते हुए प्रायः कहा करते थे—"आज के विश्व को पवित्र जीवन, बन्धुत्व और अहिंसा की सबसे अधिक आवश्यकता है। सच्चे धर्मात्मा कभी किसी का प्राण नहीं लेते। वरन् दूसरों को जीवन प्रदान करने के लिए अपना उत्सर्ग करते हैं। प्रहार करने वालों पर प्रहार करना ही धर्म का सच्चा मर्म नहीं है, धर्म का सच्चा मर्म बुराई करने वालों के अत्याचार सहकर उन्हें क्षमा करना है।

बाल्यावस्था में ही ईसा के स्वभाव में शान्ति की सौम्यता आभासित होती थी, और उनकी प्रवृत्ति धर्म तथा ईश्वर की ओर थी। उन्हें ज्ञान के लिए कभी पाठशाला की सीमा में पैर

नहीं रखने पड़े। वे जन्म से ही गम्भीर विचारवान् और बुद्धिमान् थे। धार्मिक पुस्तकों को पढ़ना-पढ़ाना, उनके उपदेशों पर विचार करना, तथा प्रकृति की सुरम्य गोद में पर्यटन करना ही उनका कार्य था।

उनकी अवस्था जब बारह वर्ष की थी, तब एक दिन फिलिस्तीन की राजधानी यरूसलम में वार्षिकोत्सव मनाया जा रहा था, उत्सव में उनके माता-पिता भी उन्हें लेकर सम्मिलित हुए थे। सहसा वे अदृश्य हो गए। उनके माता-पिता समाकुल होकर उन्हें इधर-उधर खोजने लगे। किन्तु तीन दिन तक कहीं भी उनका पता न लगा। तीसरे दिन उनके माता-पिता ने देखा कि वे मन्दिर में विराजमान हैं, और अपने समवयस्क बालकों के साथ धर्म चर्चा कर रहे हैं।

ईसा बाल्यावस्था से ही अधिक शान्तिप्रिय थे। वे सबसे मिल कर रहते थे, और सबके साथ प्रेम करते थे। तुम्हें यह सुनकर विस्मय होगा, कि इस संसार में उस समय ऐसे कई लोग थे, जो ऐसे शान्तिप्रिय और धार्मिक बालक के भी प्राण लेवा शत्रु थे। उन शत्रुओं में यहूदियों का राजा हेरोद सबसे प्रबल था। यदि उसका बस चलता तो वह महात्मा ईसा को उनकी बाल्यावस्था में ही संसार से मिटा देता। किन्तु "जाको राखे साइयां, मारि न सकि है कोय" के अनुसार वह उनका कुछ भी बिगाड़ न सका, और अन्त में स्वयं सर्वनाश के मुख में चला गया।

बात यह थी कि एक ज्योतिषी ने उसके सामने यह भविष्य-वाणी की थी कि उनके नगर में एक ऐसे बालक ने जन्म लिया है, जो संसार में एक नवीन धर्म प्रचारित करेगा, और यहूदियों का सम्राट् बनेगा। बस इसी बात से हेरोद की नींद हराम हो गई और उसने ईसा को मृत्यु के मुख में पहुंचाने की आज्ञा दे दी।

ईसा के पिता यूसुफ को जब यह बात ज्ञात हुई, तब वह ईसा को लेकर मिश्र चला गया और दो-तीन वर्षों तक अज्ञातवास में पड़ा रहा। इधर जब हेरोद के गुप्तचर ईसा को बन्दी न बना सके, तब हेरोद की क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसने आदेश प्रचारित किया, कि ईसा के समान, रूप रंग वाले जितने भी बालक मिलें, उन्हें तलवार के घाट उतार दिया जाय।

कितने ही निरीह बालक तलवार की धार पर चिर निद्रा में सुला दिये गये, पर ईसा को तनिक भी आंच न लगी। दो वर्षों के पश्चात् जब हेरोद की मृत्यु हो गई, तब कहीं यूसुफ ने शान्ति की सांस ली, और वह अपने बालक ईसा के साथ नासरत नगर में जाकर निवास करने लगा तथा बढ़ई का काम करके शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

जगत के वंद्य पुरुष महात्मा ईसा ने भी तीस वर्ष तक बढ़ई का काम किया। वे अपने उद्योग-धन्धों में लगे रहते थे। और साथ ही साथ धर्म चर्चा भी किया करते थे। संसार के कष्टों को देखकर उन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी के रूप में जगत की सेवा करने की अटल प्रतिज्ञा की थी। जब उन्होंने देखा कि उद्योग-धंधों में रहने से उनके बहुत बड़े काम में बाधा उपस्थित होती है, तब वे सेवा की भावना से प्रेरित होकर घर से निकल पड़े, और लोगों को उपदेश देने लगे। उन्होंने निम्न वर्ग के अनेक लोगों को अपना शिष्य बना लिया। वे प्रायः लोगों से कहते थे, कि ईश्वर एक है, और वह गरीबों तथा अपाहिजों के हृदय में निवास करता है। इसलिए गरीबों और अपाहिजों की सेवा ही सच्ची प्रभु सेवा है।

ईसा के जन्म के समय यहूदियों के धार्मिक विचार कुछ और ही थे। वे मूर्ति की पूजा करते थे, और पेड़-पौधों तथा सर्पों को

भी देवता मानते थे। देवताओं की प्रसन्नता के लिए गाय, घोड़ा, और ऊंट आदि पशुओं की बलि चढ़ाया करते थे। महात्मा ईसा ने इन समस्त प्रचलित रीतियों को घृणित बताया, और उन्हें छोड़ देने की लोगों को सम्मति दी। इसका परिणाम यह हुआ, कि धर्म के कट्टरपंथी उनके शत्रु हो गये। यरूसलम में कट्टरपंथियों की वृहद् सभा हुई, और सबने एक स्वर से यह निश्चय किया कि ईसा धर्म-विद्रोही है, इसलिए शीघ्र से शीघ्र उसका काम तमाम कर देना चाहिए।

ईसा की मृत्यु के लिए षड्यंत्र पर षड्यंत्र रचे जाने लगे। आखिर ईसा का एक शिष्य जिसका नाम जुडस था, प्रलोभनवश ईसा के शत्रुओं से मिल गया, और उसने ईसा को बन्दी करा दिया।

संध्या का समय था। महात्मा ईसा एक पर्वत पर अपने तीन शिष्यों के साथ ध्यानावस्था में आसीन थे। सहसा जुडस आततायियों के साथ वहां उपस्थित हुआ, और आततायियों ने ईसा को बन्दी कर लिया।

ईसा का एक शिष्य, जिसका नाम पितर था, क्रोध से उन्मत्त हो उठा। वह तलवार लेकर आततायियों की ओर झपटा, और देखते ही देखते उसने एक का कान काट लिया।

महात्मा ईसा दुःख से अधीर हो उठे। अपने शिष्य को भर्त्सना करते हुए बोले—"पितर, तलवार म्यान में करो। मैंने तुमसे यह कभी नहीं कहा कि जो तलवार का आश्रय ले, उसका तलवार से सामना करो।"

धर्म के पंडितों की सभा बुलाई गई। ईसा सबके सामने उपस्थित किये गये। एक ने आगे बढ़कर ईसा के गाल पर तमाचा जड़ दिया। ईसा ने एक गाल पर तमाचा खाकर दूसरा

गाल भी उसकी ओर कर दिया। लोगों ने विस्मय के साथ देखा कि ईसा के दूसरे गाल पर तमाचा मारते हुए उसका हाथ कांप रहा था।

धर्माचार्यों ने एक स्वर से ईसा को मृत्यु का दंड दिया। अभियोग यह लगाया गया, कि वे नास्तिक हैं और अपने को ईश्वर का पुत्र कहने का दम्भ करते हैं। दंडाज्ञा के पश्चात् ईसा को कांटों का मुकुट पहनाया गया। उन पर गालियों और कोड़ों की वर्षा की गई, उनका शरीर रक्त से लथ-पथ हो गया और वह क्रूश, जिस पर लटका कर उनका प्राण लिया गया था, उन्हें वधस्थल तक अपने कंधों पर ढोकर ले जाना पड़ा।

इतना ही नहीं, उन्हें नंगा किया गया और पहनने के लिए चिथड़े का एक टुकड़ा दिया गया। क्रूश के दोनों बाजुओं में उनके हाथ फैला कर कीलें ठोकी गयीं। इसी प्रकार पैरों में निर्दयतापूर्वक कीलें ठोंकी गयी और जब तक उनके प्राण निकल न जायें; तब तक के लिए वहां पहरा बिठा दिया गया।

कुछ वात्सल्यमयी स्त्रियां ईसा की इस विपन्नावस्था पर आंसू गिरा रही थीं। ईसा ने उन्हें आंसू बहाती हुई देखकर कहा, "मेरे लिए न रोओ; वरन् अपने और अपनी सन्तानों के लिए रोओ क्योंकि ऐसा समय आ रहा है, जब कहना पड़ेगा कि जो बांझ हैं, जिन्होंने कभी सन्तान को जन्म नहीं दिया, वे धन्य हैं।"

इस प्रकार शन्ति, अहिंसा और प्रेम के उस महान पुजारी ने मानव-कल्याण के लिए हंसते-हंसते अपनी बलि चढ़ा दी।

कोढ़ियों का सखा

दोपहर का समय था। बेलजियम के एक विद्यालय में एक बालक अपनी कक्षा में विद्याध्ययन कर रहा था, उसके साथ ही उसका छोटा भाई भी था, जिसका नाम डेमियन था। दोनों ही शांत, सौम्य, और उदार प्रकृति के थे। उन्हें देखने से ही ऐसा ज्ञात होता था, मानो प्रकृति ने उन्हें अपने गुणों के सांचे में ढाला है।

सहसा भूगोल के शिक्षक ने कक्षा में प्रवेश किया, और उन्होंने दक्षिणी समुद्र के एक द्वीप की वार्ता प्रारंभ कर दी। उन्होंने अपनी वार्ता में दक्षिणी समुद्र के उस द्वीप की स्थिति और उसके वायु मंडल पर प्रभाव बताते हुए कहा—"वह द्वीप दुखियों का द्वीप है, पीड़ितों का संसार है। उस द्वीप में अधिकतर ऐसे मनुष्य निवास करते हैं, जिनके स्पर्श तक से लोग बचते हैं; दूसरे शब्दों में वह कोढ़ियों का द्वीप है। संपूर्ण द्वीप कुष्ठ रोग से श्वेत हो उठा है। कुष्ठ रोग से पीड़ित मनुष्यों की दुःख-भरी गाथाएं यदा-कदा समुद्र की तरंगों को लांघती हुई यहां तक पहुंच जाती हैं। उनकी दुःखपूर्ण गाथाओं को सुनकर हृदय विकंपित हो उठता है—आत्मा रो पड़ती है। उनके कष्टपूर्ण जीवन पर दयार्द्र होकर हमारी सरकार कुछ आत्मत्यागी साधकों का एक ऐसा दल भेज रही है; जो वहां पहुंचकर उनकी

सेवा करेगा।"

शिक्षक की बात सुनकर डेमियन के बड़े भाई का कंठ करुणा से विजड़ित हो उठा। वह अपने स्थान पर खड़ा होकर संयत भाव से बोला—"क्या मैं उस दल में सम्मिलित हो सकता हूं महोदय।"

शिक्षक और कक्षा के समस्त बालकों ने विस्मयान्वित होकर उसकी ओर देखा। उसकी आकृति पर स्नेह और करुणा की वर्षा हो रही थी, और वह जैसे देवदत्त-सा शांत हो रहा था। शिक्षक बोल उठे—"तुम जाओगे वहां। तुम नहीं जा सकते। तुम नहीं जानते, कि वह द्वीप यहां से कितनी दूर है, और वहां पहुंचने में कितनी आपदाओं के बड़े-बड़े पर्वत लांघने पड़ते हैं। सबसे बड़ी भयानक बात तो यह है कि जो उस द्वीप में चरण रखता है, कुछ दिनों के पश्चात् उसे भी कुष्ठ रोग हो जाता है।"

चिंता नहीं महोदय! डेमियन का बड़ा भाई बोल उठा—"मैं उस द्वीप में अवश्य जाऊंगा, और कोढ़ियों की सेवा करूंगा।"

डेमियन के बड़े भाई ने प्रार्थना-पत्र लिखकर सरकार के पास भेज दिया, और उसका प्रार्थना-पत्र स्वीकृत भी हो गया।

कल आत्म-त्यागियों का दल कोढ़ियों के द्वीप में जाने के लिए अपनी साधना-यात्रा प्रारंभ करेगा।

चारों ओर इसी की गूंज थी। जिसे देखिए, वही उनके त्याग और उनकी सेवा-भावना की मुक्त-कंठ से प्रशंसा कर रहा था। संयोगतः डेमियन का बड़ा भाई अधिक अस्वस्थ हो उठा। अस्वस्थता में उसकी यात्रा कैसे प्रारंभ होगी? वह इस रुग्णावस्था में अपने सेवा-संकल्प को कैसे पूर्ण कर सकेगा? उसकी आत्मा विकल हो उठी—बहुत ही विकल।

भाई की आन्तरिक विकलता डेमियन से छिपी न रही। वह अपने बड़े भाई के सम्मुख उपस्थित होकर बोला—"भैया आप विकल न हों। आपके स्थान पर मैं उस द्वीप में जाऊँगा, और कोढ़ियों की सेवा में अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दूँगा।"

बड़े भाई ने उत्साह से उठकर डेमियन का मुख चूम लिया, और उस पर स्नेह की अमर वर्षा करते हुए कहा—धन्य हो प्यारे भाई, धन्य हो ! संसार में सुख और सौभाग्य में अपना भाग सुरक्षित कराने के लिए तो सभी लोग विकल रहते हैं, पर दुःख और दैन्य में भाग सुरक्षित कराने की विकलता तुम्हारे जैसे ऐसे देवदूत प्रकट करते हैं। जाओ, तुम अवश्य जाओ। ईश्वर तुम्हारी साधना को अवश्य पूर्ण करेगा।

डेमियन उस दल के प्रधान अधिकारी से मिल कर आज्ञा स्वीकृति भी प्राप्त कर लाया, और यात्रा के लिए प्रतीक्षा करने लगा।

उचित शब्द उपलब्ध हो सकते हैं।

एक नहीं, तेईस वर्ष तक डेमियन कोढ़ियों के बीच में रहा। उन कोढ़ियों के बीच में रहा, जिनका शरीर कुष्ठ से गल गया था, और जिनकी ओर आंख उठाकर देखा भी नहीं जाता था। वे सृष्टि में रहते हुए भी सृष्टि से दूर थे—मनुष्य होते हुए भी मनुष्य के द्वारा उपेक्षित थे। उन्होंने अपने को समझ लिया था, कि वे हीन से भी हीन हैं, दीन से भी दीन हैं। वे कभी उठ नहीं सकते। इस सृष्टि को अपनी करुण चीत्कारों से ध्वनित करने ही के लिए उनका जन्म हुआ है। वे सृष्टि के अभिशाप हैं, दुःख हैं, घृणा हैं, उपेक्षा हैं।

डेमियन ने उनके बीच में पहुंचकर, अपनी करुणामयी वाणी में सांत्वना देना प्रारंभ किया। उसने उन्हें बताया, कि वे ईश्वर की संतान हैं, और उन्हें भी ईश्वर प्यार करता है। ईश्वर की इच्छा है, कि वे ऊपर उठें—अपनी उन्नति करें। वे अपने उन आचरणों का परित्याग करें, जो निन्दनीय हैं, वर्जित हैं।

डेमियन की करुणामयी वाणी से उनका हृदय आंदोलित हो उठा। अंधकारपूर्ण हृदय में आशा, और जीवन की ज्योति जाग्रत हो पड़ी। डेमियन जब उनके गलित घावों को अपने हाथों से धोता था, और उनमें दवा लगाता था, तब वे यह अनुभव करते थे, कि डेमियन देवदूत है। ईश्वर ने ही डेमियन को, उसके पास, उनका दुःख दूर करने के लिए भेजा है।

डेमियन दिन-रात कोढ़ियों की सेवा में तन्मय रहता था। वह उनके भयंकर घावों पर मरहम पट्टी करता था। उनकी मृत्यु शय्या के निकट बैठ कर उन्हें आश्वासन प्रदान किया करता था। जब कोई मर जाता था, तब वह उसके लिए अपने हाथों से कब्र खोदता था। इतना ही नहीं, उसने कोढ़ियों के लिए

गृह बनवाये, और स्वच्छ जल की भी व्यवस्था की। उसने उस द्वीप में एक चर्च भी बनवाया, जिसमें सभी कोढ़ी सायं-प्रातः एकत्र होकर प्रभु की प्रार्थना किया करते थे, और अपने निर्दोष आचरणों के लिए प्रभु से क्षमा मांगा करते थे।

तेईस वर्ष के पश्चात् ।

एक दिन डेमियन डाक्टर के पास गया, और उसे अपना शरीर दिखाकर बोला—"यह कौन-सा रोग है ?"

डाक्टर ने उत्तर दिया, "यह कोढ़ है।"

शनैः शनैः डेमियन के संपूर्ण शरीर को कुष्ठ ने जर्जर कर दिया। कुष्ठ से उसका शरीर गल-गल कर कटने लगा, फिर भी कोढ़ियों की सेवा न छोड़ी ।

जीवन के अंतिम दिन, वह सबको एकत्र कर प्रभु से बोला —"प्रभु ! इन असहायों को देखना, इन्हें केवल तुम्हारा ही आसरा है।"

कोढ़ियों के लिए प्रार्थना करते हुए उसकी आंखें सदा के लिए बंद हो गयीं। आश्चर्य क्या, कि वह स्वर्ग में भी उन दुखियों और निराश्रितों के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हो ।

कामना का जयी

संध्या का समय था। मगध के राजकीय कानन में वसंत हंस रहा था। वृक्षों की डालों पर पक्षी मधुरालाप कर रहे थे, और कृत्रिम पर्वतों की गोद में झर रहे थे कृत्रिम झरने! हवा पुष्प-कोषों से सौरभ चुरा कर रह-रह कर इठला रही थी। मनुष्य पशु-पक्षी, सभी वसन्त के इस उन्मादकारी वैभव पर बेताल, बेसुर नाचे जा रहे थे। किन्तु उस युवक को जैसे वसन्त के इस वैभव में कोई आकर्षण ही नहीं। वह चारों ओर से अपने ध्यान को खींचकर एक शिला पर बैठा हुआ कुछ सोच रहा था। क्या सोच रहा था कौन जाने, किन्तु उसका चित्त अधिक उदास था। उसके हृदय से रह-रह कर जो निश्वासें निकल रही थी, उनसे ऐसा ज्ञात होता था, मानो युवक के हृदय-पटल पर वेदना का कोई बहुत बड़ा काव्य अंकित है, उसकी एक-एक सांस अपनी लय में उसी के पदों को गा रही है।

युवक! युवक का नाम कुणाल था। वह मगध के सम्राट् अशोक का पुत्र था। बड़ा सुन्दर, बड़ा तेजस्वी, बड़ा उदार हृदय और मेधावी। सचमुच वह हृदय से विपन्न था। महाराज अशोक की प्रचंड सेनाओं को जब वह देशों और प्रान्तों को रौंदती हुई देखता और उनके श्रवणों में विपन्न स्त्री, पुरुषों, और बच्चों का करुण चीत्कार पड़ता, तब उसका हृदय पीड़ा

से तिलमिला उठता और साथ ही वह सोचने लगता, "निरीह जनता पर यह अत्याचार क्यों ?"

उस दिन संध्या समय राजकीय कानन में शिलाखंड पर बैठ कर कुणाल यही सोच रहा था। रह-रहकर उसकी आंखों के सामने अशोक की प्रचंड सेना के अत्याचारों के चित्र आ रहे थे, और रह-रह कर उसका हृदय दुःख से अधिक कातर होता जा रहा था। आश्चर्य नहीं, कुणाल का मन दुःख और विषाद के गम्भीर सागर में अपने को भूल जाता, किन्तु सहसा किसी की पद-ध्वनि से कुणाल चमत्कृत हो उठा, और वह पीछे की ओर निहार उठा।

कुणाल ने देखा—तिष्यरक्षिता, सम्राट अशोक की छोटी और सबसे अधिक प्रिय राजमहिषी। कुणाल उठकर खड़ा हो गया और आदर पूर्वक अभिवादन करके बोला—"कैसे यहां कष्ट किया, माता जी ?"

तिष्यरक्षिता ने उत्तर न दिया। वह कुणाल को नेत्रों में तृष्णा भर कर देखने लगी। कुणाल ने तिष्यरक्षिता की ओर देखा। तिष्यरक्षिता के नेत्र ! कुणाल को उनमें एक विचित्र उन्माद-सा दृष्टिगोचर हुआ। कुणाल मन-ही-मन सोचता हुआ पुनः बोल उठा—"कहिए माता जी, आपने कैसे यहां कष्ट किया ?"

"तुम्हारी मनोहर आंखें लाई कुणाल !"—तिष्यरक्षिता कुणाल की ओर देखती हुई बोल उठी।

कुणाल ने आश्चर्य-चकित होकर तिष्यरक्षिता की ओर देखा। तिष्यरक्षिता वासना के रथ पर आरूढ़ होकर अमानवी लोक की ओर उड़ी जा रही थी। कुणाल आंखों में विस्मय भर कर तिष्यरक्षिता की गति को देखने लगा। तिष्यरक्षिता कुणाल को अपनी ओर देखता हुआ देखकर पुनः बोल उठी—"सचमुच

कुणाल तुम्हारी सुन्दर आंखें !"

तिष्यरक्षिता अपनी बात को अभी पूर्ण रीति से समाप्त भी न कर पाई थी कि कुणाल बीच मे व्याकुल होकर बोल उठा—"माताजी, माताजी, यह आपको क्या हो गया ?"

"मैं नही जानती कुणाल !" तिष्यरक्षिता ने प्रेमातुर होकर कहा—"मुझे क्या हो गया है ? पर मैं इतना जानती हूं कुणाल, कि तुम्हारी मोहक आंखों ने मेरे हृदय के कोने-कोने में कामना की आग लगा दी है। उस आग को केवल तुम्हीं शीतल कर सकते हो कुणाल।"

तिष्यरक्षिता अपनी बात समाप्त कर सतृष्ण नेत्रों से कुणाल की ओर देखने लगी और साथ भुजाएं फैलाकर कुणाल की ओर कुछ आगे बढ़ी। कुणाल पीछे हटता हुआ पुन: बोल उठा—"बस कीजिए माता जी, बस कीजिए। जिन कानों से आज मैं आपकी इन बातों को सुन रहा हूं, हाय वे बहरे क्यों नहीं हो जाते, और आज जिन नेत्रों से मैं आपके इस स्वरूप को देख रहा हूं, वे नेत्र बन्द क्यों नहीं हो जाते। पृथ्वी और आकाश तुम सब क्यों मौन हो ? एक माता अपने पुत्र की ओर वासनामयी दृष्टि से देखे ! पृथ्वी, तू फट क्यों नही जाती, और आकाश तू गरज कर गिर क्यों नहीं पड़ता ?"

कुणाल कहते-कहते शान्त हो गया। उसकी सांस तीव्र गति से चलने लगी और नथुने रह-रह कर फड़कने लगे। वह कुछ देर तक शांत होकर भीतर-ही-भीतर दुःख की आग में जलता रहा, और पीड़ा से तड़पता रहा। फिर द्रुतगति से एक ओर को चल पड़ा। तिष्यरक्षिता ने कुणाल की ओर देखा। कुणाल तिष्यरक्षिता पर हृदय की सारी भर्त्सना उड़ेल कर द्रुतगति से आगे बढ़ा जा रहा था। तिष्यरक्षिता कुपित हो उठी—सर्पिणी की भांति, सिंहिनी की तरह। नेत्रों से क्रोध की चिंगारियां

बिखेरती हुई बोल उठी—"जाओ कुणाल, जाओ, पर यह सुनते जाओ। तुम्हारे जिन नेत्रों ने आज मुझे पागल बना दिया है, उन्हें मैं प्राप्त करके ही सन्तोष की सांस लूंगी।"

किन्तु कुणाल ने तिष्यरक्षिता की ओर ध्यान तक न दिया। वह द्रुतगति से चलकर अपने भवन में पहुंचा। किन्तु उसे शांति न मिली। रह-रह कर तिष्यरक्षिता का वासनामय चित्र उसकी आंखों के सामने आने लगा, और वह रह-रह कर सोचने लगा—"जिस राज्य में, जिस पृथ्वी पर मां बेटे की ओर वासनामयी आंखों से देखे, वह राज्य और वह पृथ्वी क्या किसी मनुष्य के रहने योग्य है? नहीं, कदापि नहीं, कदापि नहीं।" कुणाल कई दिन और कई रात तक बराबर यही सोचता रहा, और अन्त में अपनी स्त्री धर्मरक्षिता को लेकर काश्मीर चला गया और संन्यासी की तरह कुटिया में रहकर जीवन व्यतीत करने लगा।

किन्तु तिष्यरक्षिता के मन में शांति कहां? कुणाल ने भर्त्सना की जो कील उसके हृदय में चुभोई थी, वह उसकी पीड़ा से तड़पने लगी, और साथ ही करने लगी कुणाल के सर्वनाश का षड्यंत्र। अशोक की महारानी तिष्यरक्षिता। उसका षड्यंत्र प्रबल जाल बन कर बिछ गया। वीतराग कुणाल उस जाल में फंस जाए तो विस्मय ही क्या?

एक दिन संध्या का समय था। कुणाल श्रीनगर के समीप एक कानन में अपनी कुटी के द्वार पर बैठा ध्यान-मग्न था। सहसा उसकी कुटी से कुछ दूर मनुष्यों का रव सुनाई पड़ा और वह आंखें खोल कर उसी ओर देखने लगा। उसने देखा कुछ मनुष्यों का एक दल भागा हुआ आ रहा है, और उसके पीछे है अश्वारोही सैनिकों का झुण्ड। कुणाल उसी ओर ध्यान से देखने लगा और साथ ही अपने मन में कुछ सोचने भी लगा। अभी कुणाल की दृष्टि उस ओर लगी ही थी, कि वे मनुष्य दौड़ते हुए

कुणाल की कुटी के द्वार पर आ पहुंचे, और एक ही सांस में कह गये, "बचाइये महात्मा! हम सबके प्राण बचाइये!"

कुणाल ने उठकर उन पीड़ितों को अपनी दया के आश्रम में लिया। कुणाल उनसे कुछ पूछना ही चाहता था कि अश्वारोहियों का दल भी आ पहुंचा और नायक ने घोड़े की पीठ पर से ही सैनिक आदेश देते हुए कहा—"बन्दी बना लो इन विधर्मियों को।"

सैनिक आगे बढ़े। किन्तु कुणाल अपने आश्रितों और सैनिकों के मध्य में खड़ा हो गया और दृढ़ता के साथ बोला—"आखिर क्यों तुम इन्हें बन्दी कर रहे हो?"

"ये विधर्मी हैं"—नायक ने उत्तर दिया।

"विधर्मी होना कोई अपराध नहीं।"—कुणाल ने नायक की ओर देखकर कहा।

"कुछ भी हो सम्राट का ऐसा आदेश है"—नायक ने दर्प से उत्तर दिया।

"किस सम्राट का आदेश है?" —कुणाल बोल उठा—कौन है ऐसा, जो मानवता और ईश्वरी शासन को अपने पैरों से कुचल कर अपने को उसके ऊपर प्रतिष्ठापित करना चाहता है।"

नायक ने आंखों में क्रोध भर कर कुणाल की ओर देखा। ऐसा लगा, मानो वह आंखों से क्रोध की चिनगारियां उंडेल कर कुणाल को भस्म कर देना चाहता है। कुछ देर तक इसी प्रकार कुणाल की ओर देखता रहा। फिर बोल उठा—"मूर्ख, कलिंग विजयी सम्राट अशोक का नाम क्या तूने नहीं सुना? क्या तू नहीं जानता कि अशोक का आदेश ही ईश्वरीय विधान है। हट जा सामने से! ये विधर्मी हैं। हम इन्हें अवश्य बन्दी बनायेंगे।"

तुम इन्हें बन्दी नहीं बना सकते नायक—कुणाल बोल उठा

—"तुम्हें यह जानना चाहिए कि तुम्हारे सम्राट से भी बढ़कर संसार में एक विराट् शक्ति है, जिसका आदेश केवल मनुष्य पर नहीं, समस्त विश्व के प्राणियों के हृदय पर संचालित हुआ करता है।"

नायक ने आश्चयचकित होकर कुणाल की ओर देखा। कुणाल की आकृति पर अनुपम तेज और अनुपम साहस ! नायक कुछ देर के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा हो उठा, किन्तु फिर संभल कर बोल उठा—"साधु ! सम्राट के आदेश पालन में अवरोध न डालो। इसका परिणाम अनिष्टकारी होगा।"

और यह कहते-कहते नायक स्वयं घोड़े से कूद कर आगे की ओर बढ़ा। कुणाल ने बीच में ही आवेशमयी वाणी से उसे रोक कर कहा—"यदि तू नहीं मानता तो काश्मीर के शासक से कह दे, कि राजकुमार कुणाल बुला रहे हैं।"

"राजकुमार कुणाल ! नायक का मस्तक अपने-आप कुणाल के सम्मुख नत हो उठा और वह करबद्ध क्षमा-याचना करता हुआ नम्रतापूर्वक बोल उठा—आप और इस देश में राजकुमार।".

"हां नायक !" —कुणाल ने उत्तर दिया—"इसका कारण पूछने की आवश्यकता नहीं। जाओ शीघ्र काश्मीर के शासक को बुला लाओ।"

नायक ने एक सैनिक की ओर संकेत किया और घोड़े की पीठ पर चढ़कर वायु से बातें करने लगा।

कुछ ही देर के पश्चात् नगर की ओर से दो अश्वारोही आते हुए दृष्टिगोचर हुए। एक काश्मीर का शासक था, और दूसरा था वह सैनिक जो उसे बुलाने गया था। कुणाल की कुटी के द्वार पर पहुंच कर शासक ने कुणाल का अभिवादन किया, और विस्मय के स्वर में कहा—"आप इस वेश में कुणाल।"

"हां !"—कुणाल ने उत्तर देते हुए कहा—"तुम इन निर-

पराध व्यक्तियों को मुक्त कर सकते हो ?"

"यह मेरी शक्ति के बाहर है राजकुमार !—शासक ने उत्तर दिया—ये सम्राट की आज्ञा से बन्दी हुए हैं। सम्राट ही इन्हें मुक्त कर सकते हैं।"

अपनी बात समाप्त करके शासक मौन हो गया, और कुछ सोचता हुआ कुणाल की ओर देखने लगा। कुणाल को ऐसा लगा, मानो शासक कुछ कहना चाहता हो, पर कह न पा रहा हो। कुणाल उसकी गति-विधि को लक्ष्य करके बोल उठे—"क्या तुम और कुछ कहना चाहते हो ? कहो, कहो !"

"एक आदेश पत्र है राजकुमार !—शासक ने सिर झुकाकर मन्द स्वर में कहा

और साथ ही उसने अपनी जेब से आदेश पत्र निकालकर कुणाल के हाथ पर रख दिया। कुणाल उस आदेश-पत्र को पढ कर कुछ देर चुप रहा। फिर बोल उठा—"मैं तैयार हूं शासक। तुम इस आदेश-पत्र के अनुसार सम्राट् की आज्ञा का पालन कर सकते हो।"

"किन्तु आदेश-पत्र में तो आपके दोनों नेत्र निकालने का आदेश दिया गया है राजकुमार।—शासक ने दयार्द्र कंठ से कहा—यह क्रूर कर्म मुझ से कदापि न हो सकेगा।"

"सम्राट् का आदेश है शासक।—कुणाल ने शासक की ओर देखते हुए गम्भीर स्वर में कहा—तुम्हें इस आदेश का पालन करना ही पड़ेगा।"

"नहीं राजकुमार, मुझसे इस आदेश का पालन न हो सकेगा ...शासक ने उत्तर दिया—मैं इसके लिए अपने पद का परित्याग कर दूंगा।"

कुणाल विचार-मग्न हो उठा। फिर बोल उठा—"अच्छा शासक, तुम इन व्यक्तियों के साथ मुझे भी बन्दी बनाकर सम्राट

सम्राट् के पास भेज दो।"

पाटलिपुत्र के सिंहासन पर सम्राट् अशोक आसीन थे। मंत्री, सेनापति और धर्माधिकारी अपने-अपने स्थान पर बैठे हुए थे। विचार विनिमय चल रहा था। सहसा एक स्त्री और एक-पुरुष ने सभा में प्रवेश करके सभा की गति को रोक दिया, और लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो उठा। उनके बड़े-बड़े नेत्र, उनकी तेज मण्डित आकृति, और अंग-अंग पर साधुता, महा-साधुता। दोनों ने सिंहासन के समीप पहुंच कर सम्राट् को आदर से प्रणाम किया। सम्राट् ने पूछा, कौन हो तुम ?"

"चक्रवर्ती सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल।"—पुरुष ने उत्तर दिया।

लोग आश्चर्यचकित होकर पुरुष की ओर देखने लगे। स्वयं सम्राट् अशोक के भी विस्मय की सीमा न रही। कुछ देर तक सम्राट् चुप रहे। फिर बोल उठे, "तुम क्यों बन्दी बनाये गये ? तुम्हारा अपराध ?"

"मैंने अपनी समझ से अपराध तो कुछ भी नहीं किया" —कुणाल ने उत्तर दिया—"मेरे बन्दी होने का कारण यह है कि सम्राट् को मेरे दोनों नेत्र चाहिए।"

"तुम्हारे दोनों नेत्र।—सम्राट् विस्मय से बोल उठे।"

"हां सम्राट् !"—कुणाल ने कहा—"आप ही ने तो तक्ष-शिला के शासक के नाम यह आदेश-पत्र प्रचारित किया है कि राजकुमार कुणाल जहां भी कहीं हो, उसके दोनों नेत्र निकाल कर आपके पास भेज दिये जायें। काश्मीर के शासक से यह काम न हो सका सम्राट्। अतः मैं बन्दी रूप में स्वयं आपके पास उपस्थित हुआ हूं।

सम्राट् विचार-मग्न हो उठे और साथ ही उनकी भवें भी तन गईं। उन्होंने रोष के स्वर में कहा—"क्या कहते हो तुम

युवक ?"

मैं सच कहता हूं सम्राट्—कुणाल ने उत्तर दिया—यदि विश्वास न हो, तो तक्षशिला के शासक से पूछ लिया जाय।

सम्राट् का आदेश हुआ और तक्षशिला का शासक सामने उपस्थित हुआ। उसने सम्राट् को अभिवादन करते हुए आदेश-पत्र निकाल कर सम्राट् के हाथ पर रख दिया। सम्राट् ने उसे पढ़ा; एक बार, दो बार और तीन बार। सम्राट् के हस्ताक्षर की मुहर भी उस पर मोजूद थी। सम्राट् ने पत्रवाहक का नाम पूछा, और शासक के बताने पर सम्राट् ने क्रोध के स्वर में उससे पूछा—"पत्रवाहक। यह आज्ञा-पत्र तुम्हें किसके द्वारा प्राप्त हुआ था ?"

"महारानी तिष्यरक्षिता के द्वारा सम्राट्—पत्रवाहक ने कांपते हुए स्वर में उत्तर दिया।

महारानी तिष्यरक्षिता को राज-सभा में उपस्थित होने का आदेश हुआ। महारानी ने सिंहासन के समक्ष उपस्थित होकर सम्राट् को अभिवादन किया। सम्राट् ने गम्भीर स्वर में पूछा—महारानी, यह आदेश-पत्र—क्या तुमने प्रचारित किया था ?

महारानी ने आदेश-पत्र देखा और उसका मस्तक नत हो उठा। सम्राट् की आंखें जल उठीं और वे घृणा के स्वर में बोल पड़े—"क्रूर रानी। आज मैं समझ गया कि तू मेरे प्रेम की ओट में कैसे-कैसे क्रूर कर्म करती रही। पुत्र की सुन्दर आंखों ने भी तुझे व्याकुल बना दिया। तुम्हारी ऐसी घृणित माता को इस धरती पर रहने का कदापि अधिकार नहीं है।"

समस्त राज-सभा कांप उठी। कुणाल ने सम्राट् के समक्ष घुटने टेक दिए और करुणा भरी वाणी से कहा—"मैं महारानी से प्राणों की भिक्षा मांगता हूं सम्राट् !"

"इस प्रकार की भिक्षा देना मेरी शक्ति के बाहर है

कुणाल।"—अशोक ने गम्भीर स्वर में कहा।

और तिष्यरक्षिता देखते-देखते वधिकों के सिपुर्द कर दी गई।

सम्राट्—चिन्तामग्न सम्राट् सिंहासन से उठने ही वाले थे कि पौंडवर्द्धन के शासक का भेजा हुआ अनुचर राज-सभा में उपस्थित हुआ और उसने एक पत्र तथा एक अंगूठी अशोक के हाथ में दी। अशोक ने पत्र पढ़कर अंगूठी को देखा। अंगूठी उनके भाई वीताशोक की थी, जो कुछ दिनों से अदृश्य थे और जिनका कहीं पता नहीं चल रहा था और जो अब पौंडवर्धन के शासक के पत्रानुसार मार डाले गए थे।

सम्राट् अशोक अपने भाई के वियोग में विह्वल हो उठे और मूर्छित होकर राजसिंहासन पर गिर पड़े। सुनते हैं इन दोनों घटनाओं का अशोक के हृदय पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा, कि उन्होंने सदा-सदा के लिए अपने राज्य में जीव-हिंसा बन्द करवा दी और स्थान-स्थान पर पत्थरों पर यह खुदवा दिया कि जो मनुष्य जीव हिंसा करेगा, या किसी को दुःख देगा, वह अपराधी समझा जाएगा।

पीड़ितों का मित्र

डढ़ सौ वर्ष पूर्व की बात है, इंग्लेण्ड में विक्टोरिया का राज्य था। उन्हीं दिनों रूस का अंग्रेजों और तुर्कों के साथ एक तुमुल युद्ध हुआ। इतिहास में यह युद्ध क्रीमिया युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। रूस ने इस युद्ध में विजय प्राप्त की थी।

विजय की प्रसन्नता में, एक दिन रात में उत्सव मनाया जा रहा था। उत्सव में विविध प्रकार के भोजन, नृत्य, वाद्य, संगीत इत्यादि सबका प्रबन्ध था। सैनिक, सेनापति आनन्द में मग्न थे।

हर एक की आकृति पर आह्लाद और प्रसन्नता नृत्य कर रही थी; किन्तु एक युवक सैनिक इसका अपवाद था। वह उत्सव में सम्मिलित न होकर चुपचाप अपने शिविर में लेटा हुआ था। बहुत ही उदास था, बहुत ही गंभीर था, और विचारों में डूबा हुआ-सा था।

उत्सव में बाजे बज रहे थे, और बाजों की मधुर ध्वनि के साथ रह-रहकर संगीत-लहरी छिटक रही थी; पर उस युवक के लिए जैसे कहीं कुछ हो ही न रहा हो। वह उदास बैठा था, और मन-ही-मन सोच रहा था—"क्या इसी का नाम विजय है? सहस्रों मनुष्य युद्ध के मैदान में पीड़ा से चिल्ला रहे हैं। किसी का हाथ कट गया है, तो किसी का पैर, न जाने कितने मृत्यु के

मुख में जा चुके हैं। धरती रक्त से लाल हो गयी है। न कहीं सुख है, और न कहीं शांति। फिर क्या इसी का नाम विजय है? मनुष्य, मनुष्य की बलि देकर आनन्द का उत्सव मनाये। आह! यह कैसी विजय है?"

युवक सैनिक अपने शिविर में उठकर घूमने लगा। उसके मन के भीतर विचारों की आंधी चल रही थी। वह युद्ध में आहत मनुष्यों की चीत्कार को सुन-सुन कर व्याकुल हो रहा था।

उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की, कि अब वह कभी युद्ध न करेगा और कभी हिंसा के उद्देश्य से किसी अस्त्र-शस्त्र को अपने हाथ में न लेगा। किन्तु इस समय वह क्या करे? वह सेना का सिपाही था। यदि उसके मन की यह बात उसके सेनापति को ज्ञात हो जाय तो क्या यह सच नहीं है, कि वह बंदी बना लिया जाएगा, और उसे दंड दिया जाएगा। फिर वह क्या करे? क्या वह मन में उठे हुए पवित्र विचारों को दबा दे? वह ऐसा कदापि न करेगा फिर···?"

युवक सैनिक अपने शिविर में घूम-घूमकर बड़ी देर तक सोचता रहा; फिर वह वेष बदल कर शिविर से भाग निकला। उसे बंदी बनाने के लिए गुप्तचर दौड़े, जाल बिछाये गये, किन्तु वह बंदी न हो सका। बहुत दिन तक वह वेश बदल कर छिपा रहा। इन्हीं दिनों एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें युद्ध की मार्मिक कहानियां लिखी हुई थीं। इस पुस्तक का लेखक वही युवक सैनिक था, जो युद्ध के मैदान में रात को शिविर से भाग निकला था। थोड़े ही दिनों में, वह पुस्तक सारे रूस में सर्वप्रिय हो उठी। युद्ध की वे कहानियां इतनी करुणामयी थीं, कि रूस की साम्राज्ञी उन्हें पढ़ते-पढ़ते रो उठी। जब उसे यह ज्ञात हुआ, कि इन कहानियों का लेखक युद्ध का पलायक एक सैनिक है

और उसे बंदी बनाने के लिए गुप्तचर प्रयत्नशील हैं, तब उसने सम्राट् से विशेष रूप से अनुरोध किया, कि ऐसे सर्वोच्च लेखक को कभी भी राजदंड नहीं मिलना चाहिए। सम्राट् को विवश होकर साम्राज्ञी के अनुरोध की रक्षा करनी पड़ी।

जानते हो वह सैनिक और लेखक कौन था ? महर्षि टालस्टाय। वह महर्षि टालस्टाय, जिन्होंने अमर साहित्य की सृष्टि की है, जिन्होंने मानव समाज में सत्य का प्रचार किया है, और जिन्होंने प्रेम, धर्म, बन्धुता तथा अहिंसा की अमृत वर्षा की है।

महर्षि टालस्टाय एक धनी परिवार में उत्पन्न हुए थे, पर उन्होंने अपना अधिकांश जीवन देश के गरीबों, अत्याचार-पीड़ित किसानों की ही सेवा मे व्यतीत किया। उन्होंने सदा सत्य का ही पक्ष लिया, और सत्य का पक्ष लेने में कभी मृत्यु की भी चिन्ता न की। रूस की जिस ज़ारशाही से रूस के किसान पीड़ित थे, उसकी सदा उन्होंने खुलकर आलोचना की। उनकी आलोचना बड़ी कड़ी थी, फिर भी ज़ारशाही में साहस न होता था कि वह उन्हें बन्दी बनाये; क्योंकि वे देश के घर-घर में श्रद्धा के पात्र बन गये थे। देश का प्रत्येक मनुष्य उनसे प्रेम करता था, और उनके चरणो में अपनी श्रद्धा तथा भक्ति बिखेरता था।

महर्षि टालस्टाय केवल जन-सेवक ही नहीं थे, एक उच्च-कोटि के लेखक और विचारक भी थे। मनुष्यों की दशा सुधारना ही उनका उद्देश्य था। वे मनुष्यों के दुःखों को लेकर बराबर सोच-विचार किया करते थे। वे दीन-हीन मनुष्यों की सेवा के लिए अपने को तैयार करने का सदा प्रयत्न किया करते थे। वे अपनी परीक्षा स्वयं लेकर यह देखा करते थे, कि उनमें सेवा करने के लिए कितनी सहन शक्ति है। इसके लिए वे कभी-कभी

अपने को कठोर नियमों में बांध दिया करते थे। कभी वे अपने हाथ में एक भारी प्रस्तर उठाकर इतनी देर तक ताने रहते थे, कि पीडा से व्याकुल हो जाते थे। इसी प्रकार कभी-कभी रस्सी का गांठदार कोड़ा बनाकर अपने शरीर को ऐसा पीटते थे, कि रुधिर बहने लगता था।

महात्मा टालस्टाय का जन्म 1828 ई० की 9वीं सितम्बर को यसना या पोलियाना नामक स्थान में हुआ था। इनके माता पिता बड़े धनाढ्य और प्रतिष्ठित वंश के थे; पर टालस्टाय को मातृ और पितृ सुख अधिक दिनों तक न उपलब्ध हो सका। जब इनकी अवस्था नौ वर्ष की थी, तभी इनके माता-पिता स्वर्गवासी हो गये, अतः इनका पालन-पोषण और उनकी शिक्षा-दीक्षा उनकी चाची श्रीमती जुशकोन के द्वारा सम्पन्न हुई।

यद्यपि टालस्टाय का जन्म अमीर घराने में हुआ था, और उनके पास पर्याप्त पैतृक सम्पत्ति थी, पर उनका ध्यान सदा गरीबों और किसानों की सेवा की ही ओर लगा रहता था। वे जब किसानों और गरीबों को देखते, तब उनका हृदय दुःख से मथ उठता था। ऐसा लगता था, मानो वे गरीबों और किसानों की सेवा के लिए ही पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हों। सचमुच वे गरीबों की सेवा के लिए ही पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे।

वे जब शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, तभी उन्होंने किसानों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला स्थापित की थी। वे इस पाठशाला में स्वयं शिक्षक का काम करते थे। फटे-पुराने वस्त्र और मलिन वेष वाले किसानों से मिलने तथा बात-चीत करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था; पर उनकी चाची को उनका यह कार्य बिलकुल पसंद न था। वह उन्हें किसानों और गरीबों से मिलने से रोकती थी, और व्यंग्य के स्वर में प्रायः यह कहा करती थी,

कि "अपने को सुखी बनाने की अपेक्षा दूसरों को सुखी बनाना बड़ा कठिन काम है। अतएव इसके लिए रुपया और समय बर्बाद करना अज्ञानता है।"

पर टालस्टाय के ऊपर इसका रंचमात्र भी प्रभाव न पड़ता। किसानों और गरीबों की सेवा-भावना उनके हृदय में बराबर बढ़ती ही गई; और अन्त में इतनी बढ़ गई, कि वे स्वयं दरिद्रनारायण के सांचे में ढल गये।

संसार के दुःखों को देखकर टालस्टाय का मन प्रायः व्याकुल रहा करता था। संसार में उन्हें कहीं सुख और शान्ति दृष्टिगोचर नहीं होती थी। एक बार वे संसार के दुःखों से व्याकुल होकर काकेशस पर्वत की गुफा में चले गये।

एक बार उन्होंने गरीबों और किसानों की सहायता के लिए अपने धनाढ्य मित्रों से चन्दा भी एकत्र करना प्रारम्भ किया था। वे इस चन्दे को गरीबों और किसानों में बांट दिया करते थे, किन्तु उन्हें यह देखकर अधिक निराशा हुई, कि गरीब और किसान उनके दिए हुए रुपयों का दुरुपयोग करते थे, और उसे बुरे कामों में खर्च करते थे। अन्त में उन्होंने चन्दा इकट्ठा करना बन्द कर दिया, और जिनसे चन्दा लिया था, उन्हें लौटा दिया।

पर गरीबों और किसानों की सेवा से उनका मन रंचमात्र भी न हटा। जीवन के अन्तिम दिनों में तो वे तन, मन, धन से गरीबों की सेवा में लग गये। उन्होंने अपना रहन-सहन, वेष-भूषा, सब बदल दिया, और वे स्वयं भी गरीबों-सा ही अपना जीवन व्यतीत करने लगे। अपनी लाखों रुपये की सम्पत्ति, जमीन जायदाद, मकान सब कुछ वे लोकोपकार में दे डालना

चाहते थे, पर तत्कालीन रूसी कानून के अनुसार उन्हें ऐसा करने का अधिकार न था। अतः वे विवश हो गये।

वे अपने वैभवपूर्ण घर में रहते हुए रूखा-सूखा और मोटे ढंग का खाना खाते थे। उनका खाना वैसा ही होता था, जैसा गरीबों का होता है। यद्यपि घर में नौकर-चाकर और स्त्री-बच्चे थे, पर वे अपना सारा काम अपने हाथों से ही किया करते थे। उनकी स्त्री लक्ष्मी बड़ी स्वरूपा थी; और वह उनका बहुत ध्यान रखती थी। टालस्टाय भी अपने कुटुम्बियों से बहुत प्रेम करते थे। यही प्रेम लोहे की जंजीर बनकर उन्हें घर में बांधे हुए था। अन्त में उन्होंने उस जंजीर को भी तोड़ दिया, और तोड़ दिया बड़ी निर्ममता के साथ।

प्रातःकाल का समय था। भयंकर शीत पड़ रहा था। बर्फ की वायु-तरंगें उठ-उठकर प्राणों पर बाण चला रही थीं। चारों ओर सघन कुहरा छाया हुआ था। बाहर निकलने की कौन कहे, मकानों के भीतर भी लोग हाथ-मुंह ढंककर पड़े हुए थे।

पर टालस्टाय को बर्फ की वायु-तरंगें रोक न सकीं? वे अशान्त हृदय से घर से बाहर निकल पड़े। साथ में उनके एक मित्र भी था। जाने के पूर्व उन्होंने अपनी स्त्री से कहा, कि कोई उनकी खोज-खबर न करे।

उस समय उनकी अवस्था बयासी वर्ष की हो चुकी थी। वे दिन-भर बराबर चलते रहे। रात्रि उन्होंने एक ईसाई मठ में बिताई। प्रातःकाल हुआ तो फिर अनिर्दिष्ट दिशा की ओर चल पड़े। इसी समय उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी स्त्री भी उनके पीछे-पीछे आ रही है। इस समाचार से वे सिसक कर रो उठे। उन्हें भय था, कि जो आत्म-विजय उन्होंने प्राप्त की है, वह पत्नी के दर्शन से समाप्त न हो जाय; क्योंकि वे अपनी पत्नी को बहुत

प्यार करते थे।

अन्त में 1910 ई० की 20वीं नवम्बर को वे परमधाम सिधार गये। उनकी मृत्यु के समय उनकी इच्छानुसार उनकी कब्र उनके कमरे के बाहर खोदी गई थी, जो अब भी विद्यमान है।

विष पान

आज से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व की बात है, एथेंस नगर के सन्निकट एक संगतराश के घर में एक दिव्य विभूति ने जन्म लिया था, जिसे सम्पूर्ण जगत आज महर्षि सुकरात के नाम से स्मरण करता है। सुकरात उन दैवी विभूतियों में से थे, जो कभी-कभी लोक-कल्याण के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ करती हैं। सुकरात का पार्थिव शरीर आज संसार में नहीं है, पर उनकी मानव-सेवाएं आज भी उनके दिव्य स्वरूप का चित्र हमारे सम्मुख चित्रित करती हैं और इसी तरह सदा चित्रित करती रहेंगी।

सुकरात ने पृथ्वी पर जन्म लेकर मानव-समाज को एक ऐसा ज्ञान प्रदान किया, जिसे पाकर वह सदा के लिए समृद्धिशाली हो उठा। आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, जीव का ईश्वर से क्या सम्बन्ध है, दया, क्षमा और सत्य क्या है, सुकरात ने इन दैवी गुणों का भली-भांति विवेचन किया है। उन्होंने अपने ज्ञान-दंड से दैवी गुणों को मथ कर एक ऐसा रस निकाला है, जिसे पान करके सारा विश्व आज भी धन्य हो उठता है।

सुकरात मानव-सेवी थे, बहुत बड़े मानव सेवी थे। उनकी दृष्टि में सब समान थे। वे सभी मनुष्यों को एक ही सूत्र में बंधा हुआ देखते थे। वे जब मनुष्यों को युद्ध करते हुए देखते थे, तब उन्हें बड़ा कष्ट होता था। वे आजीवन लोगों को शान्ति, सत्य,

प्रेम, विश्वास और दया का उपदेश करते रहे। अन्त में यही उपदेश उनकी मृत्यु का कारण हुआ। किन्तु क्या सुकरात मरे? नहीं; वे आज भी अमर हैं, और उनकी वाणियां आज भी सत्-पथ पर चलने के लिए आश्रय दे रही हैं।

आज सुकरात का नाम संसार के बड़े-बड़े विद्वानों के अधरों पर है, पर जानते हो सुकरात का जन्म कहां हुआ था? एक निर्धन संग-तराश की झोंपड़ी में। होश संभालते ही स्वयं सुकरात भी संग-तराशी का काम करने लगे। उन्हें कभी पढ़ने-लिखने का अवसर प्राप्त न हुआ; कह नहीं सकते; क्यों? उनकी जीवन कहानियों में कहीं इसका उल्लेख नहीं है। पर उनमें ज्ञान की अखंड ज्योति थी। उनका यह ज्ञान ईश्वर प्रदत्त था। वे ईश्वर के घर से ही ज्ञान की अतुल सम्पत्ति लेकर आये थे, और उस सम्पत्ति को विश्व मानवों में लुटाकर पुनः भगवान के पास चले गये।

सुकरात ने कुछ दिनों तक युद्ध में सैनिक का भी कार्य किया था। यद्यपि युद्ध में जाना सुकरात के स्वभाव के विपरीत था, पर सुकरात ने जिस समय जन्म धारण किया था, उन दिनों एथेंस के प्रत्येक निवासी को युद्ध में सम्मिलित होना ही पड़ता था। इसी नियम के अनुसार सुकरात को भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। उन्होंने युद्ध-क्षेत्र में भी अपने उसी ईश्वरीय ज्ञान और शक्ति का विस्मयकारी चमत्कार प्रदर्शित किया था। युद्ध-क्षेत्र में भी सुकरात का धैर्य और उनकी सहन-शक्ति अधिक प्रशंसनीय थी। वे प्राणों का मोह त्याग कर शत्रुओं के मध्य में चले जाते थे, और मृत्यु के जाल में आग्रस्त अपने साथियों को मुक्त करा लाते थे। उनके साहस, धैर्य, सहन-शक्ति और अजेय पौरुष को देखकर बड़े-बड़े सैनिकों को भी अधिक विस्मय होता था।

सुकरात अपने समय के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी थे।

उन दिनों एथेंस निवासियों में डेल्फी नामक स्थान की देववाणी को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता। डेल्फी के देवता 'अपोलो' अर्थात् सूर्य थे। एथेंस निवासियों पर जब कोई संकट उपस्थित होता था अथवा उनके सम्मुख जब कोई समस्या उपस्थित होती थी, तब वे डेल्फी की ही भविष्यवाणी का आश्रय लेते थे, और उसी के अनुसार कार्य भी करते थे।

एक बार चीरेफन नामक एक नागरिक ने डेल्फी में अपोलो भगवान् से प्रश्न किया—"इस समय मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् पुरुष कौन है?" उत्तर मिला—"सुकरात।"

इस देववाणी ने सुकरात को बहुत ऊपर उठा दिया। एथेंस में चतुर्दिक उनका सर्वाधिक सम्मान होने लगा, और नगर निवासियों के हृदय में उनका निवास बन गया, और इसी के प्रतिफल स्वरूप व्यवस्थापिका सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। व्यवस्थापिका सभा में भी सुकरात ने अपने कर्तव्य, न्याय, साहस, दया, और सत्य का परिचय दिया।

अपराध यह लगाया गया, कि वे देश के नवयुवकों को पथभ्रष्ट करते हैं, और देश के देवी-देवताओं में विश्वास नहीं करते ।

पांच सौ नागरिकों की जूरी के सामने सुकरात के मुकदमे पर विचार हुआ । सुकरात ने अपने को निरपराध घोषित किया । उन्होंने अपनी सफाई देते हुए कहा, "मुझे मारो या छोड़ो जैसी तुम सब की इच्छा; परन्तु स्मरण रखो कि मुझे एक नहीं, यदि अनेक मृत्यु का सामना करना पड़े तो भी मैं आज तक जो कुछ करता आया हूं, उससे एक पग भी पीछे न हटूंगा ।'

जूरियों ने एकमत होकर सुकरात को मृत्यु का दण्ड दिया । सुकरात ने इस दंडाज्ञा को उसी प्रकार सुना, जिस प्रकार लोग जीवन की साधारण घटनाएं सुना करते हैं ।

सुकरात आत्म वीर थे, आत्मा की अजरता और अमरता से भली-भांति परिचित थे । मृत्यु उनके लिए हंसी थी—खेल थी । मृत्यु की आज्ञा पाने पर भी वे हंसते-मुसकराते रहते थे । जब उनका मुकदमा चल रहा था, तब उसके कई दिन पूर्व ही एथेंस नगर से देवपूजा का जहाज डिलोस नामक पवित्र स्थान के लिए अपनी वार्षिक यात्रा पर जा चुका था । एथेंस के नियमानुसार जब तक वह जहाज लौटकर नगर में न आ जाए, तब तक सुकरात को फांसी नहीं दी जा सकती थी । अतः उसके लौटने तक सुकरात को कारागार में डाल दिया गया ।

कारागार में सुकरात को मिलने-जुलने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । वे वहां भी अपना सम्पूर्ण कार्य नियम से करते थे । प्रतिदिन झुंड के झुंड उनके भक्त उनसे मिलने के लिए कारागार में आते, उनका दर्शन करते और उनकी अमृतमयी वाणियां सुना करते ।

अन्त में जहाज के लौट आने पर सुकरात की स्वर्ग-यात्रा

का समय उपस्थित हुआ। सुकरात की हथकड़ी और बेड़ियां खोल दी गयीं। सुकरात के इष्ट मित्र, भक्त और बन्धु-बांधव उनके सामने आकर खड़े हो गये। सुकरात ने सबकी ओर प्रेम से देखते हुए कहा—"अब तक मैंने जो बातें बताई हैं, उन पर दृष्टि रखते हुए हम सबको अपना जीवन पवित्रता और बुद्धिमानी के साथ व्यतीत करना चाहिए; क्योंकि इसी में हमारी आशाएं हैं, और इसी में हमारे सारे पुरस्कार हैं।"

अंत में उन्होंने उस जल्लाद की ओर स्नेह से देखा, जो उनके लिए हाथ में विष का प्याला लेकर खड़ा था। वे जल्लाद की ओर देखकर बोले—"कहो भाई मुझे क्या करना होगा ?"

जल्लाद ने ओठों को दबाकर दुःख के साथ उत्तर दिया—"इसे पीना होगा।"

सुकरात ने मुसकुराते हुए विष का प्याला हाथ में ले लिया और एक ही सांस में बड़ी शान्ति के साथ पी गये। दर्शक मंडली रो उठी। सुकरात ने दृढ़ता के साथ कहा—"अब तक जो बातचीत हुई उसका क्या यही प्रभाव है ?"

वे अपनी कोठरी में जाकर धीरे-धीरे टहलने लगे। विष का प्रभाव प्रकट हुआ, वे पृथ्वी पर लेट गये, और सदा के लिए लेट गये।

किन्तु उनके उपदेश अब भी कानों में गूंज रहे हैं, और सदा गूंजते रहेंगे।

दिव्य ज्योति

गुरु नानक। वे एक दिव्य प्रकाश थे—ईश्वरीय ज्योति थे। न जाने किन साधनाओं से, किन पूत कर्मों से उन्होंने भारत मां के सुअंक में जन्म धारण किया था। यदि वे उस अंधेरी रात में, तम के युग में, ज्ञान का अखण्ड दीपक लेकर भारत की धरा पर न अवतीर्ण होते, तो क्या यह सच नहीं है, कि लुटेरे उस पौधे को उखाड़ फेंकते, जो आज पल्लवित हो रहा है—पुष्पित हो रहा है।

गुरु नानक चेतना के अग्रदूत थे। उनकी चेतना, उनका ज्ञान ईश्वरीय था, दैवी था। वे उस अज्ञानता के जाल को छिन्न-भिन्न करने के लिए ही धरती पर आए थे, जिसके फन्दों में फंस कर भारत सिसकियां भर रहा था—विदेशियों के पैरों की धूलि फांक रहा था।

पितृपक्ष के दिन थे, और प्रभात का समय। एक सरोवर के तट पर, कुछ ब्राह्मण अंजलि में जल ले लेकर सूर्य की ओर उछाल रहे थे। किशोर वय के नानक की दृष्टि पड़ी, और वे विचार-मग्न हो उठे।

कुछ देर तक सोचते रहे; फिर उन ब्राह्मणों के पास जाकर, जोर-जोर से पानी उलीचने लगे।

एक ब्राह्मण ने प्रश्न किया—"क्यों भाई, तुम यह क्या कर रहे हो?"

नानक जी ने उत्तर दिया—"मैं अपने खेत को पानी दे रहा हूं।"

ब्राह्मण विस्मय के स्वर में बोल उठा—"कितने अज्ञानी हो तुम ! भला, इस प्रकार तुम्हारे खेत में पानी कैसे पहुंच सकता है ?"

नानक जी ने उत्तर दिया—"उसी प्रकार, जिस प्रकार तुम्हारी अंजलि का पानी, तुम्हारे स्वर्गस्थ पितरों तक पहुंच सकता है।"

नानक जी ने इसी प्रकार अज्ञानता पर—पाखण्डों और आडम्बरों पर—कर्कश प्रहार किए हैं। उन्होंने हाथ में ज्ञान की मशाल लेकर उन कीटाणुओं के विनाश के लिए अद्‌भुत साधना की है, जो अंधेरे में भारतीय एकता के मूल में विष घोल रहे थे।

नानक जी सत्य के पुजारी थे। वे सत्य का बल लेकर उन कुसंस्कारों, और अंध परम्पराओं से जूझने के लिए पैदा हुए थे, जो रक्त-पिपासु कीड़ों की भांति भारत का रक्त चूस रहे थे, और जिनके कारण विदेशी बढ़ते आ रहे थे—देश के गगन पर बादलों की तरह छाते जा रहे थे।

नानक जी आजीवन हिन्दुओं और यवनों के कुसंस्कारों से जूझते रहे। उनकी साधना मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए थी—उस दीवाल को गिराने के लिए थी; जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देती। उनकी साधना और उनका वह तप आज भी उनकी वाणियों में गुंजारित हो रहा है। कितना अच्छा होता, कि आज भारत के छोटे-बड़े सभी लोग नानक जी की वाणियों में अपने आचरण को ढालते।

नानक जी कुसंस्कारों पर, अंध-परम्पराओं पर एक महावीर की भांति ही प्रहार करते थे। उनके एक हाथ में ज्ञान और

दूसरे हाथ में साहस का वज्र था। वे बड़ी निर्भीकता के साथ चोट करते थे। उनमें 'सत्य' के लिए समाज क्या, सारे जगत से जूझने की शक्ति थी—अखण्ड शक्ति थी।

नानक जी के जीवन के वे दिन। वे किशोर जीवन में प्रविष्ट कर रहे थे। उनके माता-पिता उनके यज्ञोपवीत संस्कार को लेकर चिन्तित थे। वे प्रायः प्रतिदिन नानक जी से उसके लिए आग्रह करते। पर परम्पराओं से युद्ध करने वाले नानक भला उनकी बात क्यों मानने लगे?

एक दिन जब उन्होंने अधिक आग्रह किया, तो नानक जी के मुंह से निकल ही तो पड़ा—

"केवल तीन धागे गले में डालने से कोई पुण्यात्मा नहीं बन जाता। यदि मनुष्य अपने चित्त को पवित्र रखे, तो उसे यज्ञो-पवीत की कोई आवश्यकता नहीं।"

कितना सत्य है इस वाणी में, और सत्य को प्रकट करने के लिए कितनी निर्भीकता। युग-युगों की परम्परा को नानक जी ने केवल एक ही झटके में तोड़ दिया—खंड-खंड कर दिया।

नानक जी परम्पराओं पर प्रहार करने में अपने प्राणों का मोह भी नहीं करते थे। देश में, विदेश में, बाहर—वे सर्वत्र अदम्य साहस के साथ हाथ में 'सत्य' का दण्ड लेकर खड़े हो जाते थे, और फिर कुसंस्कारों पर—आडम्बरों पर ऐसा प्रहार करते थे, कि देखने वाले, सुनने वाले विस्मित हो उठते थे।

बात उन दिनों की है, जब नानक जी अपने मत का प्रचार करते हुए देश-देशों का परिभ्रमण कर रहे थे। घूमते-घूमते वे मक्का पहुंचे, और एक दिन परिश्रान्त होने पर, पथ के एक ओर पैर करके सो गए।

संयोग की बात। तीन-चार मौलवी उधर से निकले, और नानक जी को काबे की ओर पैर करके सोता हुआ देखकर कुपित

हो उठे।

एक ने नानक जी को जगाकर उन्हें डाँटते हुए कहा—"क्यों बे, उधर पैर करके क्या सो रहा है? क्या तुझे मालूम नहीं है कि उधर खुदा का घर है?

नानक जी ने उत्तर दिया—"भाई, मैं थक गया हूँ। तू मेरा पैर पकड़ कर उस ओर कर दे, जिस ओर खुदा का घर न हो।"

मौलवियों ने नानक जी के पैरों को पकड़ कर दूसरी ओर कर दिया। पर आश्चर्य। उन्हें अब उसी ओर काबा दिखाई देने लगा। उन्होंने नानक जी के पैरों को जिस किसी ओर घुमाया, उन्हें उसी ओर काबा दृष्टिगोचर हुआ।

मौलवी नानक जी के चरणों पर लोट पड़े। नानक जी ने उन्हें उठाते हुए कहा—"यह कितनी बड़ी अज्ञानता है, कि तुम सब खुदा को केवल एक ओर और स्थान में समझ रहे हो। अरे भाई, खुदा तो चतुर्दिक् और सर्वत्र विद्यमान है।"

सिपाही हो या सम्राट्, राजा हो या रंक, नानक जी सत्य को प्रकट करने में रंचमात्र भी संकोच न करते थे। एक बा उन्होंने अपने अदम्य साहस से बगदाद के एक खलीफा को विस्मय की तरंगों में डुबो दिया था। खलीफा बड़ा अत्याचारी था। उसने प्रजा पर भाँति-भाँति के कर लगाकर बहुत धन एकत्र किया था। नानक जी घूमते-घूमते जब बगदाद पहुंचे, तं खलीफा उनसे मिलने के लिए उनके 'निवास' पर उपस्थित हुआ।

नानक जी कंकड़ों और पत्थरों के छोटे-छोटे टुकड़े बीनने संलग्न थे। खलीफा विस्मित हो उठा, और पूछ बैठा—"य कंकड़ और पत्थर क्यों एकत्र कर रहे हो?"

नानक जी ने निर्भीकता के साथ उत्तर दिया—"मृत्यु

पश्चात् जहां तुम्हारे इकट्ठे किए रुपये जायेंगे, वहीं हमारे ये कंकड़ और पत्थर भी जायेंगे।"

खलीफा स्तब्ध हो उठा, और सुनते हैं, उसने अपने अत्याचार की दानवी चक्की बन्द करके अपना सम्पूर्ण धन गरीबों में बांट दिया।

सारा जगत—जगत के सारे प्राणी गुरु नानक के प्राणों में बसते थे। उन्हें जगत का दुःख—जगत के प्राणियों का दुःख अपना दुःख लगता था। वे जब किसी को भी दुःखी देखते, तो उसकी सेवा में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया करते थे। अपनी ऐहिक हानि होती हो तो हो, अपने को लांछना मिलती हो तो मिले, पर गुरु नानक दूसरों के दैन्य पर अपना सर्वस्व तक उत्सर्ग कर देने में कभी हिचकते न थे।

जीवन के प्रथम चरण के दिन थे। नानक जी के बढते हुए वैराग्य को देखकर उनके पिता ने उन्हें व्यापार में लगाने की युक्ति सोची। एक दिन नानक जी के हाथ में कुछ रुपये देकर नमक की बोरियां खरीदने के लिए भेजा।

नानक जी रुपये लेकर चल पड़े। साथ में एक नौकर भी था। मार्ग में कई संत मिले जो बड़े भूखे थे। उनकी दीनता भरी याचना को सुनते ही नानक जी के प्राणों में करुणा के स्रोत फूट पड़े, और उन्होंने सारा का सारा रुपया साधुओं को अर्पण कर दिया। तनिक भी यह न सोचा कि इससे उन्हें कितनी लांछना मिलेगी।

अपना तो अपना ही, नानक जी पर दुःख पर दूसरों का धन भी दान में व्यय कर दिया करते थे। नवाब दौलत खां के यहां मोदी के पद पर कार्य करते हुए वे प्रायः गरीबों को, निराश्रितों को अनाज दे दिया करते थे। तनिक भी यह नहीं सोचते थे कि आखिर इस पर-सेवा का परिणाम क्या होगा?

पर नानक जी को 'परिणाम' सोचने का अवसर कहां? उनके हृदय में तो दीन-दुखियों का मेला लगा रहता था और उनका प्रत्येक क्षण उन्हीं की सेवा में व्यतीत होता था। ऐसे परसेवी की यदि दीनबन्धु ने सहायता न की, तो फिर उनकी दीनबन्धुता को कौन स्वीकार करेगा?

किसी ने दौलत खां से शिकायत की कि मोदी तो गोदाम का सारा अनाज लुटाए दे रहा है। पर जब दौलत खां ने हिसाब की जांच-पड़ताल की तो एक दाना भी कम न निकला।

दीनबन्धु की दया पर नानक जी बिक गए और उन्होंने अपना सर्वस्व उनके चरणों पर अर्पित कर दिया। दीनबन्धु ने भी नानक जी का हाथ ऐसा पकड़ा, ऐसा पकड़ा, कि दीनबन्धु स्वयं नानक बन गए, और नानक दीनबन्धु।

ईमान, परिश्रम, प्रेम और कर्त्तव्य ही गुरु नानक जी के आराध्य थे। वे दिन-रात इन्हीं की उपासना में—इन्हीं की अर्चना में रत रहते थे। वे दूसरों को भी इन्हीं की उपासना के लिए प्रेरणा देते थे। वे कहते थे, ईश्वर वहीं है जहां ईमान होता है, और होता है परिश्रम। वे बड़े-से-बड़े तपी और जपी से उस मनुष्य को कहीं अधिक श्रेष्ठ मानते थे जिसके जीवन में ईमान होता था, प्रेम होता था, और होता था परिश्रम।

एक बार गुरु नानक उपदेश के उद्देश्य से एक गांव में पहुंचे। गांव के जमींदार और एक लोहार ने उन्हें भोजन के लिए आमंत्रित किया। पर अकेले नानक दोनों के यहां एक ही समय भोजन के लिए कैसे जा सकते थे? दो में से किसी एक के निमंत्रण को अस्वीकार करना भी उन्हें इष्ट नहीं था।

नानक जी ने कुछ सोचकर दोनों व्यक्तियों को 'निवास' पर ही भोजन लाने के लिए कहा। जमींदार के घर से अच्छे-अच्छे पदार्थ आए, पर लोहार के घर से मक्के की रोटी, और केवल

नमक की डली। नानक जी ने दोनों भोजनों पर एक दृष्टि डाली, और फिर वे बड़े प्रेम से मक्के की रोटी नमक के साथ खाने लगे।

जमींदार को दुःख हुआ। उसने जब इसका कारण पूछा तो नानक जी ने जमींदार की पूड़ी और लोहार की रोटी से एक-एक टुकड़ा लिया और दोनों को अलग-अलग मुट्ठी में बांधकर दबाया।

आश्चर्य। जमींदार की 'पूड़ी' के टुकड़े से रक्त और लोहार की रोटी के टुकड़े से दूध की बूंदें टपकने लगीं।

गुरु नानक ने दोनों के भेद की व्याख्या करते हुए कहा—जमींदार की पूड़ी में दूसरों का रक्त-शोषण है। पर लोहार की रोटी में अपना परिश्रम और ईमान है।

गुरु नानक की इस व्याख्या को यदि आज के लोग विश्वास के साथ मानें और उसे अपने आचरण में स्थान दें, तो क्या यह सच नहीं है, कि आज का दैन्य घट जाए।

गुरु नानक इस समय धरती पर नहीं हैं, पर अपनी वाणियों के रूप में आज भी वे हमारे प्राणों को ज्योतित कर रहे हैं, और इसी प्रकार चिरन्तन काल तक ज्योतित करते रहेंगे।

यही तो है गुरु नानक की अमरता। वह अमरता, जिसकी देवता भी आरती करते हैं।

आकाश का एक ऋषि

कलकत्ता नगरी के उत्तर भाग में, सिमुलिया मुहल्ले में अब भी एक विशाल भवन का बहिर्द्वार जीर्ण-शीर्ण अवस्था में स्थित है। है तो जीर्ण-शीर्ण; किन्तु उसे देखने से ऐसा लगता है, मानो अतीत में वैभव ने ही उसका निर्माण किया हो। आज भी वह अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में अपने अतीत काल के वैभव को छिपाये हुए है।

इस भवन में सुप्रसिद्ध दत्त परिवार रहता था, जिसमें स्वामी विवेकानन्द ने जन्म ग्रहण किया था। स्वामी विवेकानन्द के पिता का नाम विश्वनाथ दत्त और माता का नाम भुवनेश्वरी था। विश्वनाथ दत्त वकील थे, पाश्चात्य सभ्यता के अनन्य पुजारी थे। इसलिए सभ्यता ने भी उनकी आत्मा को आग्रस्त कर रक्खा था; पर भुवनेश्वरी, साक्षात् भुवनेश्वरी थीं। प्राचीन सभ्यता की प्रतिमूर्ति, कर्म-कुशलता और निरन्तर रामायण, महाभारत तथा गीता का प्रेम से पाठ करने वाली।

पर चिन्ता सदैव दग्ध किया करती थी—कोई पुत्र नहीं था। प्रतिदिन प्रातःकाल देवाधिदेव शंकर के मन्दिर में जाकर आर्द्र कण्ठ से पुत्र मांगतीं। शिव की अर्चना के सम्बन्ध में जो कुछ भी हो सकता, उनसे कहतीं। गृह-कार्य छोड़ कर मन्दिर में ही; शिवार्चन में अपना अधिकांश समय बिता देतीं।

एक दिन प्रातःकाल का समय था। भुवनेश्वरी शिवार्चन के

पश्चात् आशुतोष के ध्यान में मग्न हो उठीं। दोपहर बीत गया, अंशुमाली शनै-शनै पश्चिम की ओर ढुलकने लगा। पर भुवनेश्वरी को चिन्ता नहीं, ध्यान नहीं जैसे उनका बाह्य ज्ञान पूर्ण रूप से लुप्त हो उठा हो।

संध्या आ गई। अंशुमाली अस्त हो गये। अंधकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा; पर उस अन्धकार में भी भुवनेश्वरी की आकृति पर एक अदम्य ज्योति थी; मानो आज उनकी सारी साधना, सारी तपश्चर्या उनके मुख मंडल पर बिखर पड़ी हो। अधिक रात्रि गये, साधना की वेदिका से उठीं, दिन भर की थकी-थकायी सो गयी।

विचरण करने लगी स्वप्न जगत् में। "तुषार धवल, कर्पूर-गौर कैलाशपति सामने खड़े हैं, और कर उठा कर वरदान दे रहे हैं।" निद्रा भंग हुई, और हृदय आनन्द की तरंगों से परिपूर्ण हो उठा। वह स्वप्न सत्य हुआ।

एक दिन पुण्य प्रभात में, जब शिव मन्दिरों के घण्टे बज रहे थे, और 'हर-हर' नाम से दिशाएं ध्वनित हो रही थीं, भुवनेश्वरी के सुअंक में शिशु ने जन्म लिया। कितनी मंगलमय थी वह घड़ी। भुवनेश्वरी ही के लिए नहीं, सम्पूर्ण देश के लिए, और—सम्पूर्ण जगत् के लिए भी।

विवेकानन्द का नाम पहले नरेन्द्रनाथ था। श्री नरेन्द्रनाथ बाल्यावस्था में बड़े स्वेच्छाचारी और चंचल प्रकृति के थे। जब देखो, तब अशिष्ट आचरण किया ही करते थे। न किसी की वाणी का शासन मानते थे, और न किसी की ताड़ना का। शिव प्रदत्त थे न। शिव की शक्तियों का उनमें पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव हुआ था।

माता का जब कोई वश न चलता, और सब कुछ करके हार जातीं, तब शिव की शक्ति को शान्त करने के लिए शिव का ही

सहारा लेतीं। बालक नरेन्द्र के मस्तक पर 'शिव-शिव' कहती हुई जल डालतीं। अद्‌भुत आश्चर्य। बालक नरेन्द्र का उद्धतपन शीघ्र शान्त हो जाता और वह सन्तुष्ट होकर हंस उठते; उसी प्रकारसन्तुष्ट हो उठते, जिस प्रकार जलाभिषेक से स्वयं भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो उठते हैं।

कभी-कभी नरेन्द्र की उद्धतता से आकुल होकर भुवनेश्वरी शिव को ताने भी दे दिया करती थीं। कहती थीं, "महादेव ने स्वयं न आकर न जाने कहां से एक भूत भेज दिया है।" कभी-कभी बालक नरेन्द्र को भयभीत करने के उद्देश्य से कहतीं, "देख बिले (नरेन्द्र का नाम था), यदि तू ऊधम मचायेगा, तो महादेव तुझे कैलाश में आने न देंगे।

बालक नरेन्द्र अपनी मां के मुख से इन बातों को सुनकर अधिक भयभीत हो जाते, और नेत्रों में कातरता भर कर उनकी ओर देखने लगते।

बालक नरेन्द्र प्रायः अपनी माता के पास बैठकर रामायण और महाभारत की कहानियां सुना करते थे। इन कहानियों को सुनते-सुनते उनका हृदय भक्ति रस से परिपूर्ण हो उठा। एक दिन वे बाजार गये, और सीता राम की युगल मूर्ति खरीद लाये। मकान की छत पर, सुनसान कमरे में उसकी स्थापना कर दी; और फिर जब देखो, तब ध्यान मग्न उन मूर्ति के समक्ष बैठे ही रहा करते थे।

एक दिन बालक नरेन्द्र सीता राम की मूर्ति के समक्ष ध्यानावस्थित बैठे हुए थे। सहसा उनका कोचवान वहां जा पहुंचा। बालक नरेन्द्र को सीता राम की मूर्ति के समक्ष ध्यानावस्था में बैठा हुआ देखकर उसका हृदय आनन्द से उमड़ पड़ा। बात होने लगी। होते-होते विवाह पर जा पहुंची। किसी अज्ञात कारण-वश कोचवान को विवाह पसन्द न था। अतः उसने विवाहित

जीवन की अशान्ति का ऐसा जीता-जागता चित्र खींचा, कि बालक नरेन्द्र के सुकुमार चित्त पर उसकी छाप गम्भीर रूप से अंकित हो गई। नरेन्द्र के मन में अनेक चिन्ताएं उठीं, और वे आकुल होकर नेत्रों में आंसू लिए हुए माता के पास पहुंचे। माता ने जब रोने का कारण पूछा, तब कोचवान के मुख से जो कुछ सुना था, कांपते हुए कण्ठ से सुना दिया, और कहा—"मैं अब सीता राम की पूजा कैसे करूं? सीता तो राम की बहू थीं?"

प्रेममयी माता ने पुत्र को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया, और कहा—"सीता राम की पूजा न भी करो तो क्या हानि है? कल से शिवजी की पूजा करो।"

संध्या का समय था। अन्धकार धीरे-धीरे सघन होता जा रहा था। बालक नरेन्द्र सीता राम की युगल मूर्ति को लेकर छत पर जा पहुंचे, और उसे निर्भयतापूर्वक नीचे फेंक दिया। वह नीचे गिरकर चूर-चूर हो गई।

क्यों? इसलिए, कि श्रीराम ने अपना विवाह किया था। बालक नरेन्द्र के हृदय के भीतर जो भावी संन्यास-भावना छिपी थी, क्या यह उसी की झलक नहीं थी?

बालक नरेन्द्र बड़े सजग और पृच्छक थे। उनके हृदय में जन्म-जात विशालता थी, जन्म-जात मानव प्रेम था। यही कारण है, कि रूढ़ियों को वे बड़ी सशंक दृष्टि से देखते थे, और उनके संबंध में प्रश्न पर प्रश्न कर बैठते थे। बेचारी मां उनके तर्क-पूर्ण प्रश्नों का उत्तर न दे पाती थी, और हताश होकर उनका मुख देखने लगती थी। बालक नरेन्द्र के प्रश्न बड़े अद्भुत होते थे, बड़े कौतूहलपूर्ण—"माता जी, थाली छूकर शरीर पर हाथ लगाने से क्या होता है? बायें हाथ से जल पात्र उठाकर जल पीने से हाथ क्यों धोना पड़ता है?"

नरेन्द्र के पिता विश्वनाथ बाबू वकील थे, अतः उनके पास

अपने कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न जाति और धर्मालम्बी व्यक्ति आया करते थे। उनमें एक पेशावरी मुसलमान सज्जन भी थे। उनकी बालक नरेन्द्र में अनुरक्ति हो गई थी। वे जब आते बालक नरेन्द्र झट उनकी गोद में जा बैठते थे। उनसे पंजाब, पेशावर और अफगानिस्तान की कहानियां आग्रहपूर्वक सुनते और उनके हाथ से संदेश और रसगुल्ले भी प्रेम से खाया करते थे।

मुसलमान के हाथ का संदेश और रसगुल्ला। बालक नरेन्द्र के घर में एक आन्दोलन-सा खड़ा हो गया। बालक नरेन्द्र वर्जित किये जाने लगे। इस वर्जन से उनके मन में घृणा जाग्रत हो उठी—"कोई व्यक्ति दूसरे किसी के हाथ का क्यों नहीं खाता? यदि कोई किसी दूसरी जाति के व्यक्ति के हाथ का खा ले तो उसका क्या होगा? क्या उसके मस्तक पर घर की छत टूट पड़ेगी? क्या वह मर जाएगा?"

ये प्रश्न आंधी के झकोरों की भांति बालक नरेन्द्र के मन में उठते, और सदा मन के भीतर-ही-भीतर संचारित भी हुआ करते थे।

एक दिन जब बालक नरेन्द्र का मन इन प्रश्नों से अधिक समाकुल हो उठा, तब उन्होंने धीरे से अपने पिताजी की बैठक में प्रवेश किया। बैठक में विभिन्न जाति के मुवक्किलों के लिए जड़ाऊ चांदी के कई हुक्के सजा कर रक्खे हुए थे। एक हुक्के को एक ही जाति और धर्म के व्यक्ति पी सकते थे। इसका उत्तर जानने के लिए इन हुक्कों से सर्वोत्तम और कौन-सा साधन अपने प्रश्नों में बालक नरेन्द्र को मिल सकता था?

बालक नरेन्द्र ने झट एक के पश्चात् दूसरे हुक्के में अपना मुख लगा दिया। सभी हुक्के मुख से लगा कर 'गुड़-गुड़ा' गए। इसी समय सहसा उनके पिता बैठक में आ पहुंचे। बोले, "क्या

करते हो बिले ?"

नरेन्द्र ने उत्तर दिया—"मैं देख रहा हूं पिताजी, कि यदि मैं जाति भेद न मानूं तो मेरा क्या होगा ?"

बालक नरेन्द्र के इस उत्तर को सुनकर विश्वनाथ बाबू करुणार्द्र हो उठे, और गम्भीरतापूर्वक उसके भावी जीवन पर विचार करने लगे।

सीताराम की मूर्ति तोड़ देने के दूसरे ही दिन नरेन्द्र ने शिवमूर्ति की स्थापना की। माता का अनुकरण करके वे प्रति दिन शिव अर्चना किया करते थे। कभी पद्मासन में बैठकर ध्यान में मग्न हो जाते थे और कभी अपने संगी-साथियों को बुलाकर शिव मूर्ति के चारों ओर बैठकर ध्यान करते थे।

ध्यान में मग्न होकर किस अलौकिक रस का पान किया करते थे, कौन जाने ? किन्तु उन्हीं के कल्पनानुसार वे प्रायः ध्यानावस्था में यह सोचा करते थे, कि क्या शिव ने उन्हें अलग कर दिया है ? कभी-कभी ध्यान करने के पश्चात् उदास चित्त से वे अपनी माता के पास जा पहुंचते, और आर्द्र कंठ से बोलते, "मां, यदि मैं साधु हो जाऊं तो क्या शिवजी मुझे अपने पास लौट जाने देंगे ?"

"हां, क्यों नहीं !"—मां इन शब्दों के द्वारा बालक के हृदय की आकुलता तो शांत कर देती, किन्तु साथ ही उनका हृदय अनिर्दिष्ट भय से विकंपित भी हो उठता था।

एक दिन संध्या की वेला थी। बालक नरेन्द्र पद्मासन में शिव मूर्ति के समक्ष ध्यान-मग्न बैठे हुए थे। संगी-साथी भी कमरे में जा पहुंचे। सबके सब शरीर में भस्म लगा कर नरेन्द्र की ही भांति ध्यानमग्न हो गये। पर नरेन्द्र की भांति सबको ध्यान करने का अभ्यास तो था नहीं ! शीघ्र ही सबकी आंखें खुल पड़ीं।

देखते क्या हैं, सामने ही एक भयानक सर्प फन निकालकर खड़ा है। चिल्ला उठे सबके सब 'सांप-सांप' और आकुल होकर कमरे से बाहर निकल आये। पर नरेन्द्र बाह्य ज्ञान से जैसे बिलकुल शून्य। इस चीत्कार, कोलाहल और जन-रव का उन पर किंचित्‌मात्र भी प्रभाव न पड़ा।

लड़कों ने नीचे जाकर उनके माता-पिता को सूचना दी। वे भी दौड़कर ऊपर छत पर पहुंचे। आकाश में चन्द्रमा हंस रहा था। चन्द्रमा की किरणें कमरे में प्रविष्ट होकर नरेन्द्र के मुख-मण्डल पर खेल रही थीं। नरेन्द्र का मुख-मण्डल एक स्वर्गीय आभा से उद्दीप्त था। योगियों की भांति ध्यान-मग्न, बिलकुल स्पन्दनहीन; और सामने ही फण निकालकर बैठा हुआ विषधर सर्प! वह भी उन्हीं की भांति बिलकुल स्पन्दनहीन, और निश्चल, जैसे मंत्र-मुग्ध-सा हो!

माता-पिता भय विह्वल होकर किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से हो उठे।

कुछ देर के पश्चात् सर्प अपने-आप ही फण सिमेटकर चला गया, फिर ढूंढ़ने पर भी कहीं दृष्टि-गोचर न हुआ।

ध्यान भंग होने पर बालक नरेन्द्र ने देखा, उनके घर के लोग अधिक समाकुल हैं। जब उन्हें सर्प की बात बताई गई, तब वे अधिक विस्मत हुए। बोले—"मैं सर्प की बात कुछ भी नहीं जानता। मैं तो एक अपूर्व आनन्द का उपभोग कर रहा था!"

बालक नरेन्द्र निर्भयता और साहस की प्रतिमूर्ति थे। साधु और मानव प्रेम उनकी रग-रग में समाया हुआ था। साधु-संन्यासियों को देखकर उनके हृदय-पयोधि में आनन्द की तरंगें उठ पड़तीं। कभी-कभी किसी संन्यासी को देखते ही वे दौड़कर उससे लिपट जाते, और उनके पास जो कुछ होता, उ

डालते। यहां तक, कि कभी-कभी अपने शरीर का वस्त्र भी उतार कर दे दिया करते थे।

परोपकार के लिए अपने प्राणों को भी उत्सर्ग करने के लिये तैयार हो जाते थे। अवस्था केवल छः ही वर्ष की थी, किन्तु कार्य ऐसे-ऐसे करते थे, कि बड़े-बड़े साहसी वीरों को भी विस्मित होना पड़ता था।

संध्या का समय था। अपने मित्रों के साथ 'चड़क' का मेला देख कर लौट रहे थे। हाथ में थी भगवान् शंकर की मिट्टी की मूर्ति, सहसा सड़क पर दृष्टि पड़ी। कांप उठे उस दृश्य को देख कर ! दल का एक छोटा-सा बालक मध्य सड़क में पहुंच गया था, और सामने से एक गाड़ी आ रही थी। पथिकगण भय और विपत्ति की आशंका से चीत्कार कर उठे; किन्तु किसी में साहस न हुआ कि आगे बढ़ कर बालक को पकड़ ले।

किन्तु क्या बालक नरेन्द्र भी उन्हीं में से नहीं थे ? नहीं, वे भगवान् शंकर की मूर्ति फेंक कर आंधी की भांति झपटे, और उस बालक का हाथ पकड़ कर, उसे घसीट कर एक ओर कर दिया। यदि एक सेकंड का भी विलम्ब हो जाता, तो निश्चय था, कि बालक गाड़ी के नीचे आ जाता और उसकी हड्डियां चूर-चूर हो जातीं।

इस अनुपम साहस को देखकर लोग मुक्त कंठ से बालक नरेन्द्र की प्रशंसा करने लगे। किसी ने स्नेह में डूब कर उनके मस्तक पर हाथ फेरा, तो कोई आनन्द-विभोर हो गद-गद कंठ से आशीर्वाद देने लगे। जब घर पहुंचे और माता को भी यह घटना ज्ञात हुई, तब वे अपने आनंदाश्रु को अंचल से पोंछती हुई बोली—"बेटा, इसी प्रकार सदैव मनुष्यों का काम किया करना !"

नवीन युग का प्रवाह वेग पर था। पाश्चात्य संस्कृति की

ध्वनि बंगाल में गूंज उठी थी। सकड़ों मनीषी, चेतना-शील और विद्वानों ने अपने को ईसाई सभ्यता की गोद में डाल दिया था। अंग्रेजी भाषा की प्रचण्ड वायु दृढ़ से भी दृढ़ हृदयों को हिला रही थी। हिन्दू धर्म की भित्ति ढह रही थी, उसकी आस्था की दीवालें गिर रही थीं। कुछ लोग अवश्य ऐसे थे, जिन्होंने उसकी गिरती हुई दीवालों को रोकने के लिये अपनी छाती जुटा दी थी। ऐसे ही लोगों में से एक थे विश्व-वन्द्य रामकृष्ण परमहंस।

युग के उस भीषण प्रवाह में शिव भक्त नरेन्द्र का मन भी स्थिर न रह सका। युग ने उनके मन की आस्था और श्रद्धा को भी धूमिल कर देना चाहा। युग की प्रेरणा से उनका मन तर्क-वितर्क से भर उठा, किन्तु जिसे भगवान् शंकर ने स्वयं भारत के कल्याण के लिये भेजा था, उस पर पाश्चात्य संस्कृति मूलक युग का प्रभाव कैसे पड़ सकता था।

एक दिन सहसा नरेन्द्रनाथ स्वामी रामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आ ही तो गये। उन दिनों उनकी अवस्था पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी, और उन्होंने एफ० ए० परीक्षा पास कर ली थी। उन्होंने रामकृष्ण परमहंस को एक गाना सुनाया। परमहंस जी उनके गाने को सुन कर बड़े संतुष्ट हुए। बोले "एक दिन दक्षिणेश्वर आना!"

किन्तु नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर जाने की बात भूल-सी गई। उन्हीं दिनों उनके विवाह की चर्चा चली, और उनका मन इस विवाह की चर्चा से आन्दोलित हो उठा जब किसी प्रकार मन को शान्ति न मिली, तो एक दिन दक्षिणेश्वर, परमहंस जी के पास जा पहुंचे।

परमहंस जी उन्हें देखते ही भाव-विभोर होकर गद्गद कंठ से बोले—"तू इतने दिनों तक मुझे भुलाकर कैसे रह सका?

तेरे आने की प्रतीक्षा में मैं कितने दिनों से वाट जोह रहा हूं। विषयी लोगों के साथ वात करते-करते मेरा मुंह जल गया है। आज से तेरी तरह सच्चे त्यागी के साथ वात कर मुझे शांति मिलेगी।" परमहंस जी आंखें भर आईं, और अश्रु वूंदें धरती पर गिरने लगीं।

नरेन्द्रनाथ तो आवाक् हो गये—विस्मयपूर्ण स्थिर दृष्टि से परमहंस जी की ओर देखने लगे। परमहंस जी बोल उठे—"विस्मय में न पड़ो, मैं तुम्हें भली-भांति जानता हूं। तुम सप्तर्षि मंडल के ऋषि—नर रूपी नारायण हो, जीव के कल्याण की कामना से देह धारण की है।

नरेन्द्रनाथ जी ने इसे परमहंस जी का पागलपन समझा, किन्तु उनके मन में उनके प्रति आस्था अवश्य उत्पन्न हो गई; और वे दक्षिणेश्वर आने-जाने लगे। एक दिन दक्षिणेश्वर में वड़े-बड़े विद्वानों की मंडली एकत्र थी। नरेन्द्रनाथ भी थे। परमहंस जी भावमय होकर सबको देखने लगे। अंत में जब कुछ लोग चले गये, तब भावों को संबोधित करते हुए बोले—"भाव में मैंने देखा, केशव (एक प्रसिद्ध सुधारक) ने जिस शक्ति के वल से प्रतिष्ठा प्राप्त की है, नरेन्द्र में इस प्रकार की अठारह शक्तियां हैं। केशव और विजय के मन में ज्ञान का दीपक जल रहा है, नरेन्द्र में ज्ञान सूर्य विद्यमान है।"

परमहंस जी के मुख से अपनी ऐसी विकट प्रशंसा सुनकर नरेन्द्र को वड़ा विस्मय होता था। कभी-कभी वे उसका प्रतिवाद कर दिया करते थे, किन्तु उनके मन में परमहंस जी के प्रति आस्था वढ़ती ही गई। साथ ही भीतर का संकल्प-विकल्प भी मिटने लगा। ज्यों-ज्यों परमहंस जी का संपर्क वढ़ने लगा त्यों-त्यों ज्ञान की ज्योति जलने लगी, और एक दिन ऐसी जली कि उन्होंने संसार का परित्याग करके संन्यास ले लिया।

उन पर परमहंस जी का वरद हस्त था। एक दिन परमहंस जी ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सत्य होकर निकली। नरेन्द्र स्वामी विवेकानन्द के रूप में विश्व के कोने-कोने में विख्यात हो उठे। उन्होंने हाथ में ज्ञान का मणि-दीपक लेकर पश्चिमी देशों में भी परिभ्रमण किया। उनके ज्ञान के आलोक में सम्पूर्ण मानव जगत् अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर धन्य-धन्य हो उठा। उन्होंने जगत् के मानव-समाज को जो सन्देश दिया, वह चिरकाल तक उसके दुःख दग्ध और पीड़ित हृदय पर शीतलता का प्रलेप करता रहेगा।

सचमुच स्वामी विवेकानन्द सप्तर्षि के ऋषि—नर रूपी नारायण थे।

मन का विजेता

स्वामी राम—मन को जीतने वाले स्वामी राम! उन-सा मन-विजेता इस युग में इस धरती पर कदाचित् ही कोई उत्पन्न हुआ हो। वे मन के बादशाह थे, इन्द्रियों के सम्राट् थे। उनकी आत्मा ने राम का साक्षात्कार प्राप्त कर लिया था। वे राममय थे। उन्होंने अन्तर और बाहर के भेद को समझ कर उसे मिटा दिया था। उस पर्दे को चीर कर उन्होंने फेंक दिया था, जो आत्मा और परमात्मा के मध्य में रहता है, और जिसे लोग 'माया' कहते हैं। 'राम' मय होने ही के कारण वे अपने को 'राम' बादशाह कहते थे। सचमुच वे बादशाह थे—मन के, हृदय के और सारी प्रकृति के। देखिये प्रकृति के ऊपर उनका आधिपत्य—

"कूकर नाग के समीप एक पर्वत के शिखर पर 'राम' आसन जमाये बैठा है। चारों पर्वतों पर क्यारियों के ऊपर क्यारियां हैं, मानो कुर्सियां बिछी हैं। उन कुर्सियों पर पवन, वरुण, आदित्य और कुबेर इत्यादि देवतागण विराजमान हैं। शाहंशाह राम का दरबार लगा है। नीचे मैदान में धानी, हरे, लाल और पीले रंगों के गलीचे बिछे हैं। इस कौतुकालय में कंचनियां (नदियां) विचित्र बांकपन से नाच रही हैं और मीठी ध्वनियां करती हुई मन लुभा रही हैं।"

धन्य थे स्वामी राम, जिन्होंने प्रकृति में इस प्रकार एक-रूपता स्थापित की थी, और जिन्होंने अपने इस लौकिक जीवन को इतना ऊंचा उठा दिया था, कि उसके समक्ष स्वर्ग की उच्चता को भी झुकना पड़ता था।

स्वामी राम का जन्म पंजाब प्रांत के गुजरांवाला जिलान्तर्गत 'मराली वाल' नामक गाव में हुआ था। बाल्या-वस्था में ही विधाता ने मातृ-सुख छीन लिया। पिता हीरानन्द जी अर्थाभाव से आग्रस्त रहते थे। अतः स्वामी राम की शिक्षा-दीक्षा में समय-समय पर बड़ी बाधा उपस्थित हुई। पर जिन स्वामी राम के भीतर इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति अंतर्हित थी, उन्हें क्या विघ्न-बाधायें पीछे हटा सकती थी?

स्वामी राम ने विघ्न-बाधाओं से आग्रस्त होने पर भी शिक्षा प्राप्त की। उनके गुरु, धन्ना भगत की प्रेरणा ही उनकी शक्ति थी। विद्यार्थी अवस्था में उन्होंने जिन आपदाओं का सामना करके विद्यार्जन किया, वह प्रत्येक विद्यार्थी के लिए आदर्श है।

पास में पैसा नहीं, कोई सम्बल नहीं, केवल धन्ना भगत की प्रेरणाओं का बल। युवक रामतीर्थ ने एफ० ए० के द्वितीय वर्ष में अपना नाम लिखा लिया। पुस्तकों का व्यय कापियों का व्यय, शुल्क का व्यय, और खाने-पीने का व्यय, पिता से एक पैसा मिलता नहीं था। ऊपर से स्वामी राम की पत्नी को भी उनके ही सहारे लाहौर छोड़ गये। युवक रामतीर्थ के जीवन के चारों ओर कठिनाइयां ही कठिनाइयां थीं। किन्तु क्या कभी कठिनाइयों ने उन्हें हताश किया? युवक रामतीर्थ अपने दृढ़ संकल्प का दीपक लेकर सघन अंधकार में भी बराबर आगे बढ़ते ही गये।

थोड़ी-सी छात्र-वृत्ति मिलती थी, केवल उसी का अवलंब था। उसी से खाना-पीना, उसी से घर का किराया, उसी से शुल्क, उसी से पुस्तकों और कापियों का व्यय पूर्ण हुआ करता था। वही छात्र-वृत्ति उनकी पत्नी के भी जीवन का संबल थी। एक बार पुस्तकों पर अधिक रुपये व्यय हो गये। दूसरे व्यय कैसे पूर्ण होंगे, इसकी ओर ध्यान तक न दिया। जब हिसाब लगाया तो ज्ञात हुआ कि इस मास में उनके भाग में केवल तीन पैसे प्रतिदिन बचते हैं। पहले तो कुछ अधीरता-सी हुई, फिर संभल कर मन-ही-मन बोले—"प्रभु हमारी परीक्षा लेना चाहता है। चिंता क्या है, साधु-संन्यासी भी तो दो, तीन पैसे में अपना दिन काट लेते हैं।"

बस फिर क्या था ? युवक रामतीर्थ ने संकल्प के भरोसे विपत्ति के सागर में अपनी नाव छोड़ दी। मास के दिन बीतने लगे; केवल तीन पैसे की रोटी पर। प्रातःकाल दो पैसे की, और संध्या समय एक पैसे की। किन्तु अभी क्या ? अभी तो उन्हें समय की और भी अधिक दृढ़ता की कसौटी पर कसना है।

संध्या का समय था। एक पैसा जेब में था। रोटी खाने के लिये दुकान पर आ पहुंचे। दुकानदार अपने इस अनोखे ग्राहक से भली-भांति परिचित था। देखते ही बोल उठा—"अजी तुम एक पैसे की रोटी के साथ दाल मुफ्त में खा जाते हो। जाओ, मैं एक पैसे की रोटी नहीं बेचता।"

युवक राम की दृढ़ता और भी अधिक जाग उठी। उन्होंने संकल्प किया, कि जब तक रुपये नहीं मिल जाते, केवल एक बार ही भोजन करके समय बिताऊंगा।

भोजन भी क्या, तीन पैसे की रोटी। धन्य हो युवक राम ! तुम्हारी दृढ़ता ने ही तो तुम्हारे नाम को परमोज्ज्वल किया।

इतना परमोज्ज्वल दिया, कि आज मानवता उसी को मनुहार करता है।

युवक रामतीर्थ की जीवन-नैया बिलकुल राम भरोसे थी। हृदय में दृढ़ संकल्प, और राम का भरोसा। युवक रामतीर्थ अपनी जीवन-तरणी को विपत्तियों के सागर में आगे बढ़ाते चले जा रहे थे। लहरों पर लहरें आती थीं, तूफान पर तूफान उठता था, पर विद्यार्थी राम की नाव तरंगों पर उछलती हुई आगे बढ़ती ही जा रही थी। राम के भरोसे पर रहने वालों की जीवन-तरणी इसी तरह निरन्तर आगे बढ़ती जाती है।

स्वामी राम बी० ए० में अनुत्तीर्ण हो गये थे। इससे उनके मन में दुःख तो अवश्य पैदा हुआ, किन्तु वे निराश न हुए, और पुनः बी० ए० में प्रविष्ट हुए। प्रविष्ट हुए, बिना किसी संबल के, बिना किसी आश्रय के क्योंकि अनुत्तीर्ण हो जाने के कारण अब उनकी छात्रवृत्ति भी बंद हो चुकी थी; किन्तु राम का भरोसा जो था। उसी भरोसे पर निराहार रहकर के भी बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने का दृढ़ संकल्प कर बैठे।

संकल्प तो कर बैठे, किन्तु काम कैसे चले? शुल्क और भोजन का प्रबन्ध कहां से हो? कभी-कभी अधिक चिन्तित हो जाते। निराशा के झकोरे हृदय में उठ पड़ते। उस झकोरे में 'राम' के अतिरिक्त युवक राम का कोई सहायक न था। युवक राम का मन जब अधीर हो उठता, तब वे 'राम' को पुकार उठते थे।

एक दिन विद्यार्थी 'राम' का मन परिस्थितियों से अधिक समाकुल हो उठा। उन्होंने पहले अपने कांपते हुए मन को बांधने का अधिक प्रयत्न किया किन्तु जब वह बंध न सका तो एकांत में जाकर रो-रोकर कहने लगे—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वम् मम देव-देव॥

तो क्या युवक राम की 'राम' ने सुन ली ? हां सुन ली।

प्रभात का समय था। ग्यारह बज रहे थे। स्वामी राम कालेज में उदास मन से बैठे हुए थे। सहसा उनके कालेज का हलवाई झंडूमल उनके निकट पहुंचा, और बोला—"आप साल-भर रोटी मेरे यहां खाया करें।"

विद्यार्थी राम इस आकस्मिक सहायता से चमत्कृत हो उठे, और उन्होंने इसे अपने लिये अपने 'राम' का प्रसाद ही समझा। झंडूमल ने विद्यार्थी राम की, उन्हें भोजन ही देकर सहायता नहीं की, बल्कि उसने उन्हें रहने के लिये मकान दिया, पुस्तकें भी ले दीं, और कई बार कपड़े भी सिलवा दिये। किसी ने सच कहा है—

'राम' भरोसे जो रहें, करें नाम की सेव।
उनकी तरणी आप ही, अपने ही से खेव॥

विद्यार्थी राम सरलता और सादगी की प्रतिमूर्ति थे। वाह्याडंबर का उन्हें स्पर्श तक न हुआ। मोटे गाढ़े की धोती और कुर्ता पहनते थे। इसी वेश में कालेज भी जाते थे। प्रायः अपने ही घर कपड़े बनवाते, और सिलवाते भी थे। एक बार अपने गुरु धन्ना भगत को अपने वस्त्रों के सम्बन्ध में पत्र लिखते हुए विद्यार्थी राम ने लिखा था—

"पिछले दिनों मुझे कपड़ों की बड़ी तंगी थी। धोबी ने महीने भर कपड़े नहीं दिये थे। इसलिए मैंने अपने पड़ोसी दर्जी से एक चोगा, एक कुर्ता, और एक पायजामा मोल ले लिया था। था। इसमें दो रुपये मे दो पैसे कम लगे थे।"

एक दूसरी बार उन्होंने गुरुदेव को अपने जूते के सम्बन्ध में पत्र में लिखा था—

"कल रात जब मैं दूध पीने के लिये गया, तब मेरी जूती का एक पैर कदाचित किसी की ठोकर से नाली में जा पड़ा। जब दूध पीकर जूती पहनने लगा, तो एक पैर तो पहन लिया, दूसरा इधर-उधर देखा, कहीं नहीं मिला। हलवाई दिया लेकर सारी नाली ढूंढ़ आया, पर न मिला। दोनों लड़कों को पैसे देने का वचन देकर कहा, कि ढूंढ दो, उनको भी न मिला। पानी बड़े जोर से चल रहा था, कदाचित् कहीं का कहीं चला गया होगा। मेरे मकान में एक पुरानी जनानी जूती पड़ी हुई थी। सवेरे एक जूती का पैर, और एक वह जनानी जूती का पैर पहन कर कालेज गया…।"

विद्यार्थी राम की यूनिवर्सिटी का वार्षिक उत्सव होने वाला था। विद्यार्थी राम को उस उत्सव में सम्मिलित होकर प्रमाण-पत्र और पदक लेना था। प्रश्न था, कि विद्यार्थी राम किस वेश में उत्सव में सम्मिलित होंगे ? क्या उसी मोटे गाढ़े की धोती और कुर्ते के वेश में ? विद्यार्थी राम असमंजस में पड़े हुए थे। एक सहपाठी ने जब प्रश्न किया, तब बोले—"भाई इस अवसर पर विलायती चोगा और बूट पहनने पड़ेंगे, किन्तु यह बात तो मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।"

किन्तु बिना चोगा पहने उत्सव में सम्मिलित कैसे हो सकते थे ? अन्त में दोनों वस्तुएं एक सहपाठी से उस दिन के लिये उधार मांग लीं। किन्तु क्या उस वेश में विद्यार्थी राम की आत्मा को कुछ भी आनन्द प्राप्त हुआ होगा ?

स्वामी राम कृष्ण के अनन्य भक्त थे। संन्यास लेने के पूर्व ही इनकी कृष्ण भक्ति पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। ये प्रायः कृष्ण को 'प्यारे-प्यारे' कह कर बुलाया करते थे। बादलों में

उन्हें कृष्ण की छवि दिखाई देती थी, और सुनाई पड़ती थी कोकिल की कूक में बंशी की ध्वनि ! कृष्ण-भक्ति का उन्माद इनकी रग-रग में व्याप्त हो उठा था; इनकी कृष्णमय आंखों को चारों ओर 'कृष्ण ही कृष्ण' दिखाई पड़ा करते थे।

गर्मियों के दिन थे। कालेज में छुट्टी थी। एक दिन प्रातःकाल रावी के तट पर जा पहुंचे, और एकान्त में अपने प्रियतम कृष्ण के ध्यान में मग्न हो गये। सहसा वृक्ष की डाल पर से कोकिल कूक उठी। कृष्ण के प्रेम में मग्न रामतीर्थ चकित हो उठे और कोकिल की ओर देखकर कहने लगे—"अरी कोकिल, तेरे स्वर में यह हृदय-वेधकता कहां से आई ? क्या तुमने उस बंशी वाले को देख लिया है ? जान पड़ता है, तुमने स्वर-माधुर्य उससे उधार लिया है। तुमने उस प्यारे कृष्ण को अवश्य देख लिया है। सच बता, हमसे किस प्रयत्न द्वारा और कब मिलेगा ? अरे नेत्रो, यदि तुम श्याम को नहीं देख सकते तो अभी फूट जाओ। अरे हाथो, यदि तुम कृष्ण के चरणों को नहीं छू सकते तो तुम्हें रख कर क्या करूंगा ?..."

"हे प्रभो, आपके दर्शन अब तक क्यों नहीं प्राप्त हुए ? क्या इसी प्रकार मेरा जीवन नष्ट हो जाएगा ? इस जन्म में तो मैंने कोई पाप भी नहीं किया, फिर आपके वियोग में क्यों इतनी वेदना सह रहा हू ? अच्छा, मैं पापी और अपराधी ही सही ! पर अब तो आपकी शरण में हूं। क्षमा कर दीजिए, एक झलक दिखा दीजिये। हे नाथ, यदि प्राण समर्पण करने से आप मिलते हैं, तो ले लीजिये, ये प्राण भी आज आपकी भेंट किये देता हूं। मुझे आपके दर्शन की चाह है...।"

रामतीर्थ बिलख-बिलख कर रोने लगे, रोते-रोते बेसुध होकर धरती पर ढुलक गये। चेतना लौटी, तो देखते क्या हैं, एक काला सर्प फण निकाल कर सामने खड़ा है, और फूत्कार

कर रहा है। बस फिर क्या? सर्प ही को कृष्ण समझ बैठे। और 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए उसी ओर लपके, पर फिर बेसुध हो गये। सुध आने पर देखते हैं, तो सर्प का कहीं पता नहीं, फिर भावोन्माद में कहने लगे—"नाथ, मिले तो सही, पर मन की मन में रह गई। मैं तो आपके उस सुन्दर स्वरूप का दर्शन करना चाहता हूं, जिस पर गोपियां आसक्त हुई थीं। मन मोहन···!"

बीच में ही फिर मूर्च्छा ने आ घेरा, और वे भक्ति के उन्माद में धरती पर गिर पड़े। देर तक अचेतावस्था में पड़े रहे। एक मित्र ने पहुंच कर उन्हें अचेतावस्था से जगाया। जब उन्हें चेत हुआ, तब वह मित्र गद्-गद् कंठ से बोला—"गोसाईजी, धन्य है वह माता, जिसने आप जैसे पुत्र को उत्पन्न किया!"

स्वामी रामतीर्थ प्रभु के सच्चे प्रेमी थे। प्रेम का आसव पीकर वे सचमुच मतवाले हो उठे थे। उनकी मत्तता बड़ी अद्भुत थी, बड़ी विचित्र थी। इस मत्तता में वे अपना सब कुछ भूल गये थे। घर द्वार, रुपया, पैसा, सब कुछ! रुपया पैसा जब उनके पास अधिक एकत्र हो जाता था, तब वे उसे मस्ती में गंगा के गर्भ में फेंक दिया करते थे। कहा करते थे, कि यह रुपया पैसा जीवन के लिये एक महान् जंजाल है, कौन इसे ढोता फिरे?

एक बार वे रावलपिण्डी में अध्यापक थे। उन्होंने एक दुकानदार से दस रुपया ऋण लिया। यह दस रुपया उन्होंने एक बार नहीं सैंकड़ों बार चुकाया होगा। जब उनके पास रुपया आ जाता था; तब वे झट उसके नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दिया करते थे। स्वामी राम के अतिरिक्त ऐसा ऋणदाता संसार में और कौन मिलेगा?

स्वामी राम पहले लाहौर के एक कालेज में गणित और

सेवा की सहचरी

बात अठारवीं शताब्दी के अन्त की है। स्वामी विवेकानन्द संन्यासी के रूप में अमेरिका का परिभ्रमण कर रहे थे। वे जहाँ कहीं जाते, भारत की दीन-हीन दशा का चित्रण करते, और यह प्रकट करते थे, कि भारत अपनी दीन-हीन दशा में भी संसार का गुरु है—विश्व का पथ-प्रदर्शक है। उसका अनुभव—उसका ज्ञान विश्व के दुखों की काली रात्रि के लिये सूर्य है—तरुण सूर्य है।

पर पार्थिव सुखों में लिप्त रहने वाला पाश्चात्य जगत क्यों विवेकानन्द की बात सुनने लगा ? विवेकानन्द के मुख से भारत की हीन और दीनावस्था का हाल सुनकर वह हंसता, व्यंग्य करता, और कहता—भारत—दरिद्र भारत क्या जगत का गुरु बनेगा ? विवेकानन्द की वाणी पाश्चात्यों के उस व्यंग्य को सुन कर गरज पड़ती—तड़प उठती।

वाह रे विवेकानन्द की ज्ञानगरिमा ! पार्थिव सुखों के दंभ में भूले हुए पश्चिम को उन्होंने अपनी ज्ञान-शक्ति से भारत के चरणों पर झुका दिया। सहस्रों, लाखों अमेरिकन भारत के भक्त बन गये, और मुक्त कंठ से सबके सब भारतीयता की प्रशंसा करने लगे।

उन्हीं भक्तों में थी, एक मिस मार्गरेट ई० नोबिल, जिनके

ऊपर स्वामी विवेकानन्द की ज्ञान-गरिमा का ऐसा रंग चढ़ा, कि वे अपने देश को छोड़ कर भारत चली आईं और अपने को भारतीयता के सांचे में ढाल कर दीन-हीन मानवों की सेवा में अपना संपूर्ण जीवन ही उत्सर्ग कर दिया।

हम सब आज भी, 'भगिनी निवेदिता' के रूप में उनका स्मरण कर उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

मिस मार्गरेट जब भगिनी निवेदिता के रूप में भारतवर्ष आईं, तो सर्वप्रथम उनका ध्यान स्त्री शिक्षा की ओर गया। उन्हें यह देखकर अधिक दुःख हुआ, कि शिक्षा के अभाव के कारण भारतीय स्त्रियों के हृदय में कितना अंधविश्वास, कितनी कुरीतियों, और कितनी विकृतियों ने अपना घर बना लिया है। कहां स्वामी विवेकानन्द का ज्ञान-सूर्य, और कहां भारतीय घरों में छाया हुआ यह अज्ञानांधकार।

भगिनी निवेदिता स्त्री शिक्षा के कार्य में रत हो गयीं। उन्होंने कलकत्ते में 'यू पाड़ा लेन' में एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर कन्या पाठशाला स्थापित कर दी; किन्तु छुआछूत और घृणा को ही अपना धर्म समझने वाला समाज क्यों अपनी कन्याओं को उस पाठशाला में जाने देने लगा? भगिनी निवेदिता ने हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया था तो क्या, थीं तो वे विदेशी और विधर्मी महिला! तिलकधारी समाज ने भरसक उनकी हवा अपनी कन्याओं को नहीं लगने दी; किन्तु उनकी सेवाओं और उनके त्याग ने उनकी आंखें खोल दीं। शनैः-शनैः पाठशाला का कार्य चलने लगा, और कुछ दिनों में इतना चला कि आज भी लोग सम्मान से उस पाठशाला का स्मरण कर उसके प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं।

भगिनी निवेदिता ने जहां ज्ञान और शिक्षा का प्रचार करके

हमारे समाज के भीतरी कोढ को दूर करने का प्रयत्न किया; वहां उन्होंने बाह्य जगत में भी अपनी व्यावहारिक शिक्षा के द्वारा समाज को साफ-सुथरा रहने की शिक्षा दी। हम सभी स्वच्छता चाहते हैं, किन्तु अपने हाथों में सफाई करने को कौन कहे, उलटे हम उन्हें और भी अधिक गंदी बना दिया करते हैं, और यह कह दिया करते हैं, कि मेहतर आकर स्वच्छ कर जायेगा।

किन्तु क्या दूसरों के भरोसे कभी स्वच्छता उत्पन्न की जा सकती है ? भगिनी निवेदिता ने हमारे समाज की दुर्बलता को पकड़ लिया, और उन्होंने समाज का पथप्रदर्शन करने के लिए अपने हाथों से गन्दी नालियां स्वच्छ करनी प्रारम्भ कर दी। उनकी इस व्यावहारिक शिक्षा का प्रचार भले ही बहुसंख्यक लोगों में न हो सका, किन्तु यह तो ज्ञात हो गया है, कि जो लोग दूसरों के ऊपर सफाई छोड़ कर स्वच्छता का आनंद लूटना चाहते हैं, उन्हें सदा निराश ही होना पड़ता है।

भगिनी निवेदिता सेवा की प्रतिमूर्ति थीं। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द से जो मंत्र लिया था, वह उनको रग-रग में समा गया था। सेवा के अमर मन्त्र ने उनके हृदय में देवत्व घोल दिया था। वे दूसरों के दुखों को देखकर करुणा से कातर हो उठतीं, और उनके पास जो कुछ होता, वे उसकी सांत्वना के लिए निछावर कर देती थीं।

जाड़े का समय था। शीत पड़ रहा था। एक दिन प्रातःकाल जब भगिनी निवेदिता कहीं जाने के लिए बाहर निकलीं, तब उनकी दृष्टि बरामदे में सोये हुये नौकर पर पड़ी। वह शीत से ठिठुरा जा रहा था। निवेदिता थोड़ी देर तक ध्यान से उसकी ओर देखती रहीं, और फिर उसकी ओर बढ़ कर उन्होंने अपना

गरम ओवर कोट उतार कर उसके ऊपर डाल दिया।

यह यद्यपि एक छोटी-सी साधारण घटना है, किन्तु क्या इसमें निवेदिता की जन-सेवा का भाव नहीं छिपा है ?

निवेदिता की जन-सेवा प्रशंसनीय है—स्मरणीय है। प्लेग के दिनों में जब अपने घर के कुटुम्वी भी साथ छोड़ देते हैं, तब लोगों ने भगिनी निवेदिता को प्लेग-पीड़ितों के समीप बैठी हुई पाया है। भगिनी निवेदिता ने अपना प्राण हथेली पर लेकर प्लेग-पीड़ितों की सेवा की है। वे निःसंकोच और निर्भय प्लेग से जर्जर झोंपड़ों में चली जाती थीं, और प्लेग के रोगियों के पास बैठकर उनकी सेवा-सुश्रूषा करती थी।

पूर्वी बंगाल में बाढ़ के कारण जब अकाल विकराल काल की भांति मुंह फैला कर दौड़ रहा था; तब भगिनी निवेदिता ने अकाल-पीड़ितों की जो सेवायें की थीं, वे कभी नहीं भुलाई जा सकतीं। स्वास्थ्य बिगड़ गया—शरीर ने उत्तर दे दिया; किन्तु निवेदिता अकाल-पीड़ितों को छोड़कर न हटीं—वे अकाल-पीड़ितों के साथ ही गंदे और संकीर्ण भवनों में रहती थीं और दिन-भर अकाल-क्षेत्रों में घूम-घूम कर दुखी प्राणियों की सेवा किया करती थीं। उनकी वह अमर सेवा ! आज भी बारीसाल के निवासी बड़े आदर से उनका स्मरण करते हैं, और मुग्ध कंठ उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं।

भगिनी निवेदिता इस समय जगत में नहीं हैं, पर उनकी अमर सेवायें इस समय भी भारतीयों के हृदय-पट पर अंकित हैं। एक विदेशी महिला होने पर भी उन्होंने भारतीय समाज की जो अमर सेवायें की हैं, इसके प्रति भारतीय समाज युगों-युगों तक उनका उपकृत रहेगा।

परमहंस

इस युग के परम साधक श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस। नाम लेते ही हृदय में विश्वास उमड़ पड़ता है, और उठने लगती हैं श्रद्धा की लोल तरंगें। आज जब विज्ञान ने मनुष्य को अधिक तार्किक बना दिया है, और जिसके कारण मनुष्य अधिक असहिष्णु तथा असंतोषी बन गया है, श्री रामकृष्ण परमहंस ने अपनी साधना के द्वारा ईश्वरता और धार्मिकता के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करके यह प्रमाणित कर दिया है कि जगत् का कल्याण तार्किक विज्ञान से नहीं आध्यात्मिकता से ही हो सकता है उनकी साधना मानव-जीवन के अंधकार में एक आलोक है, जीवन पथ का एक बहुत बड़ा संबल है। उससे शांति मिलती है, सुख मिलता है ! क्या ही अच्छा होता यदि भारतीय अपने जीवन के कल्याण के लिये, राजनीति के मरुस्थल में न भटक कर अपने साधकों की साधना का आश्रय ग्रहण करते और सीखते उनके जीवन से जीवन का मंत्र ! !

श्री रामकृष्ण परमहंस के जन्म का नाम गदाधर था। इनके पिता का नाम क्षुदिराम, और माता का नाम चंद्रादेवी था। श्री रामकृष्ण परमहंस ऐसे साधक जिसकी गोद में जन्म ग्रहण करे, उसके विचार कितने पवित्र होंगे, वह कितना धार्मिक

होगा, और ईश्वरता के प्रति उसके हृदय में कितनी अगाध श्रद्धा होगी, क्या इसका चित्रण शब्दों के द्वारा किया जा सकता है ? श्री रामकृष्ण परमहंस इस युग के आकुल मानवों के लिये एक वरदान थे ! कितनी तपस्याओं और कितने साधनों के पश्चात् यह अमूल्य वरदान प्रभु से उनके माता-पिता को प्राप्त हुआ होगा।

क्षुदिराम संकटग्रस्त व्यक्ति थे। गांव के जमींदार ने उनका सर्वस्व अपहरण कर लिया था। वे अपने वास्तविक गांव—नारायणपुर को छोड़ कर कुमारपुकुर नामक गांव में अधिक कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे। किन्तु इस कष्टमय जीवन के इस अंधकार में धर्म ही उनके जीवन का अवलंब था। वे अपनी विपत्ति और अभाव की घड़ियों को धर्म की ही सांस ले-लेकर बिता रहे थे। न रहने के लिये ठिकाना, और न खाने-पीने की सुविधा ! कुटुम्ब में वे, उनकी पत्नी, और दो-दो बच्चे। काम चले तो कैसे चले; किन्तु प्रभु के सहारे का बल था। जीवन की तरणी आगे बढ़ती ही गई। क्षुदिराम की जीवन-तरणी के प्रभु स्वयं मल्लाह थे, वे स्वयं उनकी रक्षा के लिए उनके घर पधारे थे।

दोपहर का समय था। सूर्य देवता आग उगल रहे थे। धरती ऐसी जल रही थी; मानो तवा हो। क्षुदिराम अभाव-पूर्ति की चिन्ता में, समीपस्थ एक गांव को जा रहे थे। धूप ने गति रोक दी। वे क्लांत होकर वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगे।

वृक्ष की शीतल छाया, मंद-मंद समीर, आंखें ढंक गईं। क्षुदिराम स्वप्न जगत् में विचरण करने लगे। "श्री रामचन्द्र बाल वेष में सामने खड़े हैं और एक स्थान की ओर उंगली से संकेत करके कह रहे हैं, मैं इस स्थान पर कितने दिनों से भूखा

पड़ा हूं। मुझे अपने घर ले चल, तेरी सेवा ग्रहण करने की मेरी बड़ी इच्छा है।"

क्षुदिराम आनन्द से गद्‌गद हो उठे। आंखें प्रेम के आंसुओं से भर आईं। नींद खुली और स्वप्न पर मन-ही-मन विचार करने लगे। सहसा उनकी दृष्टि सामने ही एक स्थान पर पड़ी। उस स्थान को देखकर उन्हें उस स्वप्न-गत स्थान का स्मरण हो आया, जिसकी ओर श्रीरामचन्द्र जी ने संकेत किया था। वे शीघ्र उठ कर वहां जा पहुंचे। देखते हैं तो एक सुन्दर शालिग्राम शिला पर एक भुजंग अपना फण फैलाये डोल रहा है। क्षुदिराम की आहट पाते ही सर्प कहीं अदृश्य हो गया। क्षुदिराम ने शालिग्राम की शिला हाथ में उठा ली। वह सचमुच श्री रघुवीर की शिला थी।

क्षुदिराम उसे उठाकर अपने घर लाये, स्त्री-पुरुष, दोनों ही श्रीराम की उपासना में रत हो गये। इस उपासना-काल में स्त्री-पुरुष दोनों ही को बार-बार भगवान् के बड़े अलौकिक स्वरूप के दर्शन हुए और उनके जीवन में बड़ी अपूर्व-अपूर्व घटनायें घटीं। क्षुदिराम की पत्नी चन्द्रा देवी को कभी-कभी ऐसी अपूर्व बातों का अनुभव होता था, कि पति-पत्नी दोनों को ही विस्मय के सागर में निमग्न हो जाना पड़ता था। उन अपूर्व अनुभवों का एक उल्लेख मैं यहां कर रहा हूं—

एक दिन चंद्रादेवी ने अपने अपूर्व अनुभव का क्षुदिराम से इस प्रकार वर्णन किया—"एक दिन मैं धनी (एक स्त्री) के साथ बातें करती हुई अपने घर के सामने के शिव मंदिर के आगे खड़ी थी। इतने में ऐसा दिखा, कि महादेव के शरीर से एक दिव्य ज्योति बाहर निकल कर सारे मंदिर में फैल गई है, और वायु के समान तरंगाकार होकर मेरी ओर वेग से आ रही है। आश्चर्यचकित होकर मैं धनी को दिखा रही थी, कि वह ज्योति

मेरे पास आई और मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई। मैं भय और विस्मय से मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ी।"

अपने और अपनी पत्नी के इन अपूर्व अनुभवों से क्षुदिराम को यह दृढ़ विश्वास हो गया, कि उन पर भगवान् की अपूर्व कृपा हुई है, और उनका अंश उनके घर में जन्म ग्रहण कर रहा है। भगवान् के यह अंश श्री रामकृष्ण परमहंस थे। सुनते हैं, जब वह पैदा हुये थे, तब नाल समेत खिसकते-खिसकते चूल्हे के पास जा पहुंचे थे, और उनके शरीर में राख-ही-राख लिपट गई थी; मानो इस राख को लिपेट कर उन्होंने जन्म लेते ही लोगों को अपने भावी जीवन की सूचना दी हो !

श्री रामकृष्ण परमहंस का भावी साधक जीवन उनकी बाल्यावस्था में ही झलकने लगा था। बाल्यावस्था में ही वे देवी-देवताओं के बड़े भक्त बन गये थे। साधु और संन्यासियों पर उनका बड़ा अटूट अनुराग था। उनके गांव में एक धर्मशाला थी, जो जगन्नाथ पुरी के मार्ग में पड़ती थी। इस धर्मशाला में प्रायः साधु-संन्यासी आकर आश्रय ग्रहण किया करते थे। श्री रामकृष्ण इन साधु-संन्यासियों के पास जाते, उनसे मिलते, उनकी बातें सुनते, और उनके साथ बैठकर भोजन भी किया करते थे। कभी-कभी सर्वांग में विभूति रमा कर, लंगोटी बांध कर अपनी माता के निकट पहुंचते, और अपनी माता जी से कहते, "देखो मा, इस वेश में मैं कितना सुन्दर लग रहा हूं !

बालक रामकृष्ण की इस अनुपम प्रकृति को देखकर उनकी मां को उनके संबंध में बड़ी चिन्ता होती। उनकी यह चिन्ता शनैः-शनैः बढ़ती ही गई। ज्यों-ज्यों बालक रामकृष्ण अवस्था की सीढ़ियों को पार करने लगे, त्यों-त्यों उनका धर्मानुराग भी बढ़ने लगा। वे प्रायः देवी-देवताओं की मिट्टी की मूर्तियां बनाते, और उनके सामने घंटों आंसू बहाते हुए बैठे रहते। एक

बार आठ वर्ष की अवस्था में ही वे देवी की प्रार्थना करते-करते पृथ्वी पर गिर पड़े थे और मूर्छित हो गये थे।

बाल्यावस्था में ही श्री रामकृष्ण सर्वप्रिय बन गये थे। गांव के समस्त स्त्री-पुरुष उन्हें बहुत स्नेह करते थे। स्त्रियां प्रायः बालक रामकृष्ण को अपने घर ले जातीं, और उनके मधुर कंठ से प्रार्थना-संगीत सुना करती थीं। बालक रामकृष्ण प्रार्थना संगीत गाते-गाते भाव-विभोर हो उठते थे। कभी-कभी यह विभोरता इतनी बढ़ जाती थी, कि वे बाह्य ज्ञान से शून्य हो जाते थे, और ऐसा ज्ञात होता था, कि मानो संपूर्ण शरीर काष्ठवत् हो गया है। सचेत होने पर, वे पूछने पर बताते थे, *"कि जिस देवता का मैं ध्यान कर रहा था, या जिसकी स्तुति सुना रहा था, उसका मुझे दिव्य दर्शन हुआ है।"*

बालक रामकृष्ण की बुद्धि बड़ी प्रखर, और दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी। वे गंभीर से भी गंभीर विषय के भीतर प्रविष्ट हो जाते थे, और उसे समझने का प्रयत्न करते थे। कभी-कभी वे बड़े-बड़े पंडितों से ऐसे गूढ़ प्रश्न कर बैठते थे कि उनकी बुद्धि विस्मित हो जाती थी। उन्हें गणित से घृणा थी। स्कूली अध्ययन भी उन्हें प्रिय नहीं था। अतः उनके घर के लोग इस सम्बन्ध में बड़े चिन्तित थे। जब यह चिंता अधिक बढ़ी, तो श्री रामकृष्ण अपने बड़े भाई श्री रामकुमार के पास कलकत्ते भेज दिये गये। कलकत्ते में रामकुमार एक मंदिर के पुजारी थे, और साथ ही एक पाठशाला का संचालन भी कर रहे थे, श्री रामकृष्ण कलकत्ते में पहुंच कर देवता की पूजा अर्चना में ही अपना समय व्यतीत करने लगे। विद्याध्ययन की ओर वहां भी वे बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे। एक दिन जब उनके भाई ने उन्हें चेतावनी दी, तब उन्होंने बड़ी शांति के साथ उनकी बातें सुन कर उन्हें स्पष्ट उत्तर दिया, "दाल-रोटी प्राप्त करने वाली विद्या मुझे न

चाहिये। मुझे तो वह विद्या चाहिये, जिससे हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।"

सन् 1853 ई० की बात है। कलकत्ते के जान बाजार की निवासिनी, ढीमर वंशीया रानी रासमणी काशी जा रही थी। उसकी नौकायें यात्रा के लिये गंगातट पर तैयार थी। रात में ही उसे स्वप्न हुआ; मानो देवी प्रगट होकर उससे कह रही हों कि "तुम काशी न जाकर हमारा एक भव्य मंदिर बनवा दो" कह नहीं सकते स्वप्न पर विश्वास करके, या और किसी कारण वश उसने अपनी यात्रा स्थगित कर दी; और देवी के मंदिर के निर्माण में हाथ लगा दिया। देखते-ही-देखते दक्षिणेश्वर में विशाल मंदिर बनकर तैयार हो गया। मंदिर में देवी की मूर्ति की प्रतिष्ठा भी हो गई। अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ, कि ढीमर के द्वारा मंदिर में पुजारी के पद पर कौन प्रतिष्ठित हो! कोई ब्राह्मण उसमें पूजा का कार्य करने के लिये तैयार ही नहीं होता था। अंत में रामकृष्ण के अग्रज रामकुमार को इस कार्य के लिये तैयार किया गया, और वे दक्षिणेश्वर में जाकर देवी की उपासना करने लगे।

श्री रामकृष्ण परमहंस भी दक्षिणेश्वर में जाकर रहने लगे। दक्षिणेश्वर में उनकी आराधना-साधना और भी अधिक बढ़ गई। वे प्रायः गंगा के तट पर एकांत में बैठे रहते और आंसू बहाया करते थे। दो-दो, तीन-तीन दिन बीत जाते थे। पर कुछ खाने-पीने का नाम तक न लेते थे। जब उसकी मां को उनका यह हाल ज्ञात हुआ, तब वे बहुत चिंतित हुईं। उन्होंने श्री रामकृष्ण को पुनः गांव बुला लिया, और उनका विवाह कर देने का निश्चय किया।

बड़े भाई रामकुमार ने श्री रामकृष्ण के विवाह के लिये

बड़ी दौड़-धूप की, किन्तु कहीं कोई कन्या न मिली। जब वे सब प्रकार से निराश हो गये, तब एक दिन श्री रामकृष्ण ने स्वयं कहा, मानो विधाता ने मेरे भाग्य में विवाह की रेखा खींची ही नही। जयराम वाटी नामक गांव में श्री रामचन्द्र मुखोपाध्याय रहते हैं। उनकी कन्या है, शारदामणि उसी के साथ विधाता ने मेरा विवाह निश्चित किया है।

प्रथम तो रामकुमार को श्री रामकृष्ण जी की बात का विश्वास न हुआ, किंतु जब उन्होंने पता लगाया तो बात सच निकली। श्री रामकृष्ण के कथनानुसार ही उनका विवाह बड़ी सरलता के साथ शारदामणि के साथ निश्चित होकर सम्पन्न हो गया। किंतु क्या विवाह-बंधन श्री रामकृष्ण को बांधकर जगत् में रख सका ?

बड़े भाई रामकुमार की मृत्यु होने के पश्चात् श्री रामकृष्ण दक्षिणेश्वर में स्वयं देवी की उपासना करने लगे। देवी की उपासना करते-करते उनकी आस्था देवी में अधिक प्रबल हो गई। इतनी प्रबल हो गई, कि वे घंटों देवी की मूर्ति के सामने बैठकर रोया करते थे। कभी-कभी रोते-रोते हंस देते थे। कभी 'मां-मां कहकर चिल्लाने लगते थे। कभी-कभी काली का सारा प्रसाद वे अपने ऊपर डाल लेते थे और कभी-कभी स्वयं खाने लगते थे। कभी-कभी रोते-रोते मूर्च्छित हो जाते तो कई दिन तक बेसुध पड़े रहते थे।

पहले तो लोगों ने समझा कि रामकृष्ण विक्षिप्त हो गये हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों उनके जीवन से चमत्कार की ज्योति फूटने लगी त्यों-त्यों उनमें लोगों की आस्था बढ़ने लगी, और फिर इतनी बढ़ी कि प्रलय भी उसे अपने सुदृढ़ करों से नीचे नहीं झुका सका।

ज्ञान का प्रकाश

शिवरात्रि की अर्द्ध निशा थी। व्रत, संयम और साधना की वीणा पर भगवान् आशुतोष का प्रार्थना-संगीत जन-जन के हृदय में गुंजित होकर अनंत में विलीन हो चुका था। मंदिर में स्तब्धता डोल रही थी। इस भय से, कि कहीं व्रत भंग न हो जाय, लोग अपनी बंद होती हुई पलक-कपाटों को बरबस खोलने का प्रयत्न कर रहे थे, किंतु नींद का झोंका जब तीव्रता से उठता था तब-तब उनके प्रयत्नों को शिथिल बनाकर पलक-कपाटों को बंद ही कर देता था।

किंतु वह किशोर बालक इसका अपवाद था। ऐसा ज्ञात होता था, जैसे उसकी पलक-कपाटों पर नींद के झोंके का कुछ प्रभाव ही न पड़ रहा हो। वह अपलक नेत्रों से, टकटकी बांध कर, भगवान् शंकर की मौन, शांत और स्पंदन-हीन मुद्रा की ओर देख रहा था। क्या सोच रहा था, कौन जाने ? कदाचित् पुष्पों, नैवेद्यों की राशि में बैठे हुए भगवान् शंकर उसे अधिक रहस्यमय ज्ञात हो रहे हों !

सपसा पुष्पों की राशि में कुछ कंपन हुआ, बालक की आंखें चमत्कृत हो उठीं। उसने विस्मयपूर्वक देखा, देवालय एक कोने से एक चूहा निकलकर बार-बार आशुतोष की मूर्ति पर आता है, और शंकर का नैवेद्य मुंह में लेकर निर्भय चला जाता है।

बालक गंभीर हो उठा—बहुत गंभीर! उसके हृदय के भीतर *एक अलौकिक प्रकाश-सा जाग्रत हो उठा।* ऐसा प्रकाश जाग्रत हो उठा कि उसने उसकी छाया में भगवान् आशुतोष के वास्तविक स्वरूप को देखा। उसने आशुतोष के स्वरूप को देखा धर्म को विकलता के रूप में, समाज की दीनता की छाया में, और कोटि-कोटि पीड़ित मनुष्यों की करुणापूर्ण चीत्कारों में। वह विकल हो उठा, और भगवान् आशुतोष की दी हुई ज्ञान-ज्योति हाथ में लेकर घर से निकल पड़ा।

जानते हो वह किशोर बालक कौन था। मूलशंकर, जो इतिहास के पृष्ठों में स्वामी दयानन्द के रूप में आज भी ज्योतित है, और प्रलय काल तक ज्योतित रहेगा।

अंधकार था, चारों ओर अंधकार था। धर्म के नाम पर, सत्य के नाम पर बाह्याडंबर की धूप थी। तिलक, यज्ञोपवीत और चूल्हे की परिधि में ही धर्म सीमित था। धर्म की परिभाषा थी, घृणा और उपेक्षा। धर्मात्मा और धार्मिकता का यही एक मापदंड था। लक्ष-लक्ष मानव दुःख से कातर होकर बिलख रहे थे, पर धर्म अपने तिलक की लाज उपेक्षा की ढाल से ही बचाने में संलग्न था।

धर्म-स्थान, देवालय और देव मूर्तियां सर्वोच्च वंशो के लिये सुरक्षित थीं। क्या मजाल, कि दीन-हीन, काले-कलूटे, मैले-कुचैले वस्त्रधारी व्यथित अछूत मानव उन तक पहुंच सकें; या उन्हें स्पर्श कर सकें। नेत्रों में साध—आकांक्षा भरकर वे देवालय से दूर—बहुत दूर ही खड़े रहते थे! देवालयों की मौन देव मूर्तियां उनकी साधों को, उनकी आकांक्षाओं को देख करके भी मौन थीं। वे टुकुर-टुकुर उनकी ओर देखा करते थे। किंतु उनकी विवशता पर क्या उनमें स्पंदन हुआ? हां, हुआ, और

अवश्य हुआ। स्वामी दयानंद का प्रादुर्भाव उस स्पंदन का ही तो परिणाम है।

समाज शिथिल हो उठा था—बहुत ही शिथिल। एक मुमुक्ष रोगी के शरीर की भांति उसका अंजर-पंजर ढीला हो चुका था, अवसन्न होकर गति हीन हो चुका था। ईसाई और मुसलमान दिन-दहाड़े उन नर-कंकालों को अपने शिविरों में ले जाकर उन्हें जीवन-दान दे रहे थे। पर धर्म बगल में पुराण की पोथी दाबे हुये, उपेक्षा की ढाल से अपने तिलक की लाज बचाने में ही संलग्न था।

स्वामी दयानन्द ने भगवान् आशुतोष से मिली हुई ज्ञान-ज्योति देश के ऊपर फेंकी, समाज के ऊपर फेंकी। उन्होंने देश और समाज में नवजीवन की ज्योति जगाने के लिये, उसकी प्रसुप्त आत्मा को उद्‌बुद्ध करने के लिये, आर्य समाज की स्थापना की। 'आर्य समाज' की स्थापना एक दैवी देन थी, ईश्वरीय निधि थी। वह हमारे देश को, हमारे अपंगु समाज को, संजीवनी की ही भांति, उपयुक्त समय पर प्राप्त हुई। समाज जो लूला बन गया था, लंगड़ा बन गया था, आर्य समाज की संजीवनी शक्ति से पुनः उठकर खड़ा हो गया, रेंगने वाला, चलने लगा, और आज तो वह विश्व की प्रतियोगिता में सबसे आगे निकल जाने के लिये भी प्रयत्नशील है।

धन्य हैं स्वामी दयानंद, महर्षि दयानंद! उन्होंने समाज की उखड़ती हुई सांसों को पुनः जोड़ा; उन्होंने भटकते हुये देश को अलौकिक प्रकाश प्रदान किया। देश ने, समाज ने, कुपित होकर विरोध किया, उनकी मृत्यु के लिये बार-बार षड्यंत्र किया, किंतु क्या वे कभी विचलित हुये? वे कोटि-कोटि विरोधों और अवरोधों को प्रचंड आंधी की भांति लांघते हुए आगे बढ़ते गये, और यह कहते गये—

क—ईश्वर एक है।

ख—वैदिक सभ्यता और धर्म संसार में सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

ग—जन्म से कोई मनुष्य ऊंच और नीच नहीं होता।

घ—ईश्वर, धर्म और धर्म-स्थान पर सबका समान रूप से अधिकार है।

स्वामी दयानंद की यह अमर वाणी ही आज समाज में शक्ति और जीवन बनकर संचरित हो रही है। स्वामी जी ने, उस अंधकार युग में, आर्य समाज की स्थापना करके भारतीय समाज की जो सेवा की, उसे हम भारतीय कभी भी नहीं भूल सकते, कभी भी नहीं ?

क्षमा और दया के देवता

गोदावरी के तट पर एक नगर है, पैठन। विद्या और ज्ञान का केन्द्र, बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ इस नगर में निवास करते थे। इसी नगर में स्वामी एकनाथ का जन्म हुआ सुप्रसिद्ध वैष्णव भानुदास के घर में प्रपौत्र के रूप में। लोगों का कथन है, कि भानुदास की उत्कट तपस्या से प्रसन्न होकर स्वयं विष्णु ने ही एकनाथ के रूप में उनके घर में जन्म ग्रहण किया था।

भक्ति जन्म जात थी, एकनाथ के हृदय में। शैशवावस्था में ही उसके अंकुर फूट पड़े। विधाता ने बाल्यावस्था में ही एकनाथ के माता-पिता, पितामह और पितामही को छीनकर वैराग्य के जल से इस अंकुर को सींचा। अंकुर पल्लवित हो उठा—एकनाथ घर छोड़कर देवगिरि पर्वत पर जनार्दन स्वामी के पास चले गये।

जनार्दन स्वामी एक बहुत बड़े साधक थे। उनकी साधना इतनी परमोज्ज्वल थी, कि वे उसमें जगत् के 'सत्य' का दर्शन करते थे। एकनाथ को इन्हीं के शिष्यत्व का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

एकनाथ को संसार से विरक्ति थी, पर वे कभी संसार से अपने को पृथक न मानते थे। वे उस कमल के सदृश थे, जो जल

में होने पर भी जल का स्पर्श नहीं करता। बिल्कुल निर्लिप्त, निर्मम और निरभिमान ! वेदों और शास्त्रों का प्रगाढ़ ज्ञान होने पर भी वे अपने को अज्ञ कहते थे।

एकनाथ की भक्ति-वेदना मराठी भाषा में पदों के रूप में मणियों की भांति बिखरी पड़ी है। कितने अमूल्य हैं वे पद ! अन्तर्जगत की कालिमा को धोकर मनुष्य को 'मनुष्य' बना देते है। एकनाथ भक्ति में विभोर होकर अपने इन्हीं पदों का गान किया करते थे, सुललित कंठ से, अनुपम भाव से। स्त्री-पुरुष ज्ञानी-अज्ञानी, छूत-अछूत सभी एकनाथ के समीप बैठकर उनका गान सुना करते थे। एकनाथ भक्ति का गान करते-करते कभी-कभी तन्मय हो जाते थे, कि उन्हें अपने बाह्य अस्तित्व तक का ज्ञान नही रहता था।

एकनाथ का हृदय बड़ा सरल था, बड़ा विशाल था। अतिथि चाहे जो भी हो, वे उसकी सेवा देवता की भांति किया करते थे। उनकी दृष्टि सब में—ब्राह्मण में भी और शूद्र में भी नारायण की ज्योति देखती थी। वे भक्तिहीन और अज्ञानी ब्राह्मण से भक्त शूद्र को उच्च-स्थान प्रदान करते थे।

रात्रि का समय था। मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। चारों ओर जल-ही-जल दृष्टिगोचर हो रहा था। हाट-बाजार बन्द था, लोग अपने-अपने घरों में कपाट बन्द करके पड़े थे। चारों ओर से केवल पानी की झमझम ! उसी झमझम में—अंधकार पूर्ण रात्रि में तीन भूखे ब्राह्मण पैठन की सड़क पर घूम रहे थे। द्वार-द्वार पर रुकते और रुककर आश्रय तथा भोजन के लिये याचना करते; किन्तु संसारियों में इतनी करुणा कहां, जो उस जल-वृष्टि में उन भूखे व्यक्तियों को उनसे भोजन और आश्रय प्राप्त हो जाता।

अंत में किसी एक ने इतनी करुणा की, कि उन्हें स्वामी एकनाथ के घर का मार्ग बता दिया।

रात्रि का द्वितीय प्रहर समाप्त हो रहा था। आकाश में बादल घिरे थे, जल-वृष्टि हो रही थी। एकनाथ का जीर्ण-शीर्ण घर टपक रहा था। सहसा द्वार के कपाट पर थपकी लगी। एकनाथ ने बाहर निकलर दीपक के प्रकाश में देखा, तीन व्यक्ति। तीनों एक साथ ही सकरुण स्वर में बोल उठे, हम भूखे हैं स्वामी जी!

एकनाथ की आत्मा इन शब्दों से तड़प उठी। घर में ईंधन नहीं, अन्न नहीं; किन्तु क्या वे भूखे व्यक्ति एकनाथ के द्वार से लौट जायेंगे। नहीं, एकनाथ उन्हें आदर-पूर्वक अपने घर के भीतर ले गये, और बरसते हुये पानी में सूखे ईंधन तथा अन्न का प्रबन्ध करके उन्हें भोजन कराया।

केवल ब्राह्मण ही नहीं, चाहे जो भी अतिथि के रूप में एकनाथ के द्वार पर आता, एकनाथ उसका सम्मान देवता की भांति किया करते थे; अपने आराध्य देवता की भांति।

एकनाथ के पितृ-पुरुषों के वार्षिक श्राद्ध का दिन था। नगर से सुप्रतिष्ठित ब्राह्मण भोजन के लिये निमंत्रित थे। भोजन तैयार हो रहा था। निमंत्रित ब्राह्मण गोदावरी नदी में स्नान करने के लिये गये थे।

सहसा कुछ यवन फकीर, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहने हुए एकनाथ के द्वार पर आ उपस्थित हुए। सबके सब भूखे, क्षुधातुर! एकनाथ का हृदय उनके सकरुण स्वरों पर रीझ उठा। उन्होंने श्राद्ध में निमंत्रित ब्राह्मणों के लिये बना हुआ भोजन यवन फकीरों को खिला दिया।

ब्राह्मण जब लौटकर आये, तब यह सुनकर कि एकनाथ ने

सारा भोजन यवन फकीरों को खिला दिया, उनके हृदय में कोप की आग भड़क उठी। किसी ने एकनाथ को कुलांगार बतलाया तो किसी ने जाति और धर्म-विद्रोही, एकनाथ ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, 'आप सब व्यर्थ ही कुपित होते हैं। वे सबके सब अत्यंत भूखे थे। इधर आप सबके आने में विलम्ब हो रहा था, मैंने उन्हें बना हुआ भोजन खिला दिया। अब आप सबके लिये दूसरा भोजन बन रहा है।"

किंतु ब्राह्मण क्यों मानने लगे, वे एकनाथ पर घृणा की वर्षा करते हुए चले गये। किंतु क्या इससे एकनाथ के मन में किंचित् भी ग्लानि उत्पन्न हुई। नहीं, एकनाथ क्षुधातुर यवन फकीरों को भोजन कराकर आनन्द विभोर थे। उन्हें ऐसा ज्ञात हो रहा था मानो उन्होंने अपने स्वर्गवासी पितृ-पुरुषों को ही अपने हाथ से भोजन कराया हो।

दिया। एक ने उसे एकांत में ले जाकर कहा—मैं तुम्हें दो शत मुद्रा दे सकता हूं; किन्तु क्या तुम मेरा एक काम करोगे ?

क्यों नहीं ?—भिखारी ने विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

वह व्यक्ति बोला, "नगर के उस छोर पर एक धर्म द्रोही ब्राह्मण रहता है। वह कहता है, कि उसने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है; और मनोवेगों को अपने वश में कर लिया है। तुम्हें उसके पास जाकर उसके मन के भीतर क्रोध उत्पन्न करना होगा ?"

"यह कौन-सी बड़ी बात है ?"—भिखारी उद्यत हो गया।

प्रभात का समय था। सूर्य की स्वर्णिम किरणें फूट रही थीं। एकनाथ नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर आराध्य देवता के समक्ष भजन-पूजन में तन्मय थे। भिखारी एकनाथ के द्वार पर पहुंच कर एकदम उनके घर में भीतर प्रविष्ट हो गया, और पूजा-गृह में उपस्थित होकर उनके अंक में आ बैठा।

ध्यान में मग्न एकनाथ की आंखें खुल पड़ीं। उन्होंने देखा, उनके अंक में एक भिखारी। भिखारी ने सोचा था, कि इस प्रकार पूजा में व्याघात उपस्थित करने पर एकनाथ अवश्य कुपित होंगे; किन्तु एकनाथ की आकृति पर न क्रोध, और न विराग। इसके विपरीत वे उसे साधुवाद देते हुए बोले—बड़ी कृपा की आपने, जो मेरे पूजा-गृह में पधारे। चलिये, आपको भोजन कराऊं।

एकनाथ अत्यधिक आदरपूर्वक भिखारी को भोजन-गृह में ले गये और उसे आसन पर बिठाया। एकनाथ की धर्मपत्नी जब अन्न परिवेसन के लिये भिखारी के समक्ष पहुंचकर नत हुई, तब भिखारी द्विशत मुद्रा के लोभ से एकनाथ को कुपित करने

सारा भोजन यवन फकीरों को खिला दिया, उनके हृदय में कोप की आग भड़क उठी। किसी ने एकनाथ को कुलांगार बतलाया तो किसी ने जाति और धर्म-विद्रोही, एकनाथ ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "आप सब व्यर्थ ही कुपित होते हैं। वे सबके सब अत्यत भूखे थे। इधर आप सबके आने में विलम्ब हो रहा था, मैंने उन्हें बना हुआ भोजन खिला दिया। अब आप सबके लिये दूसरा भोजन बन रहा है।"

किंतु ब्राह्मण क्यों मानने लगे, वे एकनाथ पर घृणा की वर्षा करते हुए चले गये। किंतु क्या इससे एकनाथ के मन में किंचित् भी ग्लानि उत्पन्न हुई। नहीं, एकनाथ क्षुधातुर यवन फकीरों को भोजन कराकर आनन्द विभोर थे। उन्हें ऐसा ज्ञात हो रहा था मानो उन्होंने अपने स्वर्गवासी पितृ-पुरुषों को ही अपने हाथ से भोजन कराया हो।

एकनाथ बड़े धैर्यशील थे, बड़े धर्म-परायण थे। उनके अंतर का कोना-कोना दया के अमृत से परिपूर्ण था। वे काल का दण्ड लिये हुए आततायी को भी क्षमा करने की अपने भीतर महा-शक्ति रखते थे। उनकी दया, उनकी करुणा लोहे को भी अमूल्य सोना बना देती थी।

एक दिन जब प्रभात हुआ, तब एक भिखारी ने पैंठन नगर में प्रवेश किया। भिखारी ब्राह्मण था, और वह कन्या-दान से आग्रस्त था। उसे अपनी कन्या के विवाह के लिये द्विशत मुद्रा की आवश्यकता थी। वह द्वार-द्वार पर जाकर धन-संग्रह कर रहा था।

पैंठन नगर में भी वह अनेक व्यक्तियों के द्वार पर गया, और नेत्रों की पुतलियों को करुणा के जल में डुबा-डुबाकर अपना अंचल पसारा। किसी ने कुछ दिया, और किसी ने झिड़क

दिया। एक ने उसे एकांत में ले जाकर कहा—मैं तुम्हें दो शत मुद्रा दे सकता हूं; किन्तु क्या तुम मेरा एक काम करोगे ?

क्यों नहीं ?—भिखारी ने विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

वह व्यक्ति बोला, "नगर के उस छोर पर एक धर्म द्रोही ब्राह्मण रहता है। वह कहता है, कि उसने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है; और मनोवेगों को अपने वश में कर लिया है। तुम्हें उसके पास जाकर उसके मन के भीतर क्रोध उत्पन्न करना होगा ?"

"यह कौन-सी बड़ी बात है ?"—भिखारी उद्यत हो गया।

प्रभात का समय था। सूर्य की स्वर्णिम किरणें फूट रही थीं। एकनाथ नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर आराध्य देवता के समक्ष भजन-पूजन में तन्मय थे। भिखारी एकनाथ के द्वार पर पहुंच कर एकदम उनके घर में भीतर प्रविष्ट हो गया, और पूजा-गृह में उपस्थित होकर उनके अंक में जा बैठा।

ध्यान में मग्न एकनाथ की आंखें खुल पड़ीं। उन्होंने देखा, उनके अंक में एक भिखारी। भिखारी ने सोचा था, कि इस प्रकार पूजा में व्याघात उपस्थित करने पर एकनाथ अवश्य कुपित होंगे; किन्तु एकनाथ की आकृति पर न क्रोध, और न विराग। इसके विपरीत वे उसे साधुवाद देते हुए बोले—बड़ी कृपा की आपने, जो मेरे पूजा-गृह में पधारे। चलिये, आपको भोजन कराऊं।

एकनाथ अत्यधिक आदरपूर्वक भिखारी को भोजन-गृह में ले गये और उसे आसन पर बिठाया। एकनाथ की धर्मपत्नी जब अन्न परिवेसन के लिये भिखारी के समक्ष पहुंचकर नत हुई, तब भिखारी द्विशत मुद्रा के लोभ से एकनाथ को कुपित करने

के लिये आसन छोड़कर उनकी पीठ पर जा बैठा।

किन्तु इस दुर्व्यवहार से क्या एकनाथ कुपित हुए? नहीं, उन्होंने अपनी स्त्री को सावधान करते हुए कहा—"देखो, मन में किंचित भी क्रोध मत करो। क्रोध करने से अतिथि देवता को महा कष्ट होगा।

एकनाथ की धर्मपत्नी भी बड़ी धर्मस्वरूपा थी। उन्होंने हंसते हुए उत्तर दिया—'इसमें क्रोध करने की क्या बात? हरि पंडित को (एकनाथ का पुत्र) पीठ पर चढ़ा कर कार्य करने का अभ्यास तो मुझे पहले ही से है। आप चिंता न करें।

एकनाथ और उनकी धर्म पत्नी की इस सदाशयता को देख कर भिखारी मन-ही-मन लज्जित हो उठा। उसने साश्रु नेत्रों से क्षमा मांगते हुए एकनाथ के समक्ष सच्ची बात खोलकर रख दी। एकनाथ ने हंसते हुए उत्तर दिया—तुमने पहले यह क्यों नहीं कहा? मेरे क्रोध न करने से तुम्हें दो सौ रुपये की हानि हुई।

एकनाथ ईश्वर के अनन्य भक्त थे। अखिल प्राणी मात्र में वे ईश्वर की अखंड ज्योति का दर्शन करते थे। वे जब किसी प्राणी को पीड़ा से छटपटाते हुए देखते, तब उन्हें ऐसा ज्ञात होता, मानो उनका भगवान् ही पीड़ा से छटपटा रहा हो; और उस समय उसकी पीड़ा को दूर करने के लिये उनसे जो कुछ हो सकता था, वे करते थे।

वे दिन, स्वामी एकनाथ की तीर्थ-यात्रा के दिन थे। एकनाथ प्रयाग से गंगा जल लेकर रामेश्वर जा रहे थे, भगवान् शंकर के अभिषेक के लिये। रामेश्वर के निकट पहुंच कर एकनाथ ने पथ में एक स्थान में देखा, "तृषा से व्याकुल एक गधा उत्तप्त बालुका राशि पर लोट रहा है। उसकी छटपटाहट को देखकर एकनाथ की आत्मा करुणा से अभिषिक्त हो उठी।

उन्होंने भगवान् शंकर के अभिषेक का जल, जो कलसी में भरा था, गधे को पिला दिया।

संगी-साथियों को इससे बड़ी ग्लानि हुई। उन्होंने एकनाथ के इस कार्य के प्रति अप्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा—एकनाथ, यह तुमने क्या किया ? भगवान् शंकर के अभिषेक के लिये इतने परिश्रम से लाया हुआ गंगा जल तुमने गधे को पिला दिया ! तुम्हारी तीर्थ-यात्रा निश्चयपूर्वक निष्फल हो गई।

एकनाथ ने हंसते हुए उत्तर दिया—मेरी तीर्थ-यात्रा सफल हो गई। अब मुझे रामेश्वर जाने की आवश्यकता नहीं। मैंने भागीरथी का जल नारायण को समर्पित कर दिया।

एकनाथ ऊंच-नीच के भेद से परे थे—बहुत परे थे। वे सचराचर को अपना जानते थे—अपने प्रभु का जानते थे। न उनकी किसी में अनुरक्ति थी, और न किसी से घृणा। जहां तक दृष्टि जाती थी; सर्वत्र उन्हें भगवान् की ही ज्योति दृष्टि-गोचर होती थी।

रात्रि के प्रथम प्रहर का समय था। एकनाथ का कीर्तन विमोहक कंठ में चल रहा था। स्त्री-पुरुष भक्ति के प्रवाह के वहे जा रहे थे। एकनाथ कहां थे, यह उन्हें ज्ञात नहीं। सहसा कीर्तन मंडली में एक ओर कुछ व्याघात उपस्थित हुआ—'हटो, हटो दूर रहो !'

एक ओर से उठकर वह व्याघात समस्त मंडली में व्याप्त हो उठा। एकनाथ का स्वर प्रवाह रुक गया। उन्होंने पूछा—क्या है बन्धुओ !

यह राना महार है स्वामी जी !—एक ओर से किसी ने उठ कर कहा—अपनी पत्नी के साथ ब्राह्मणों के बीच में घुसा आ रहा है।

रान्ना महार—अछूत रान्ना महार ! मनुष्य होते हुए भी अस्पृश्य, ईश्वर की संतति होते हुए भी घृणास्पद !! ब्राह्मण उसको स्पर्श करने को कौन कहे, उसकी छाया तक को अपवित्र समझते थे। किन्तु क्या प्राणी-मात्र में ईश्वर की ज्योति देखने वाले एकनाथ की दृष्टि में भी वह अस्पृश्य था ?

एकनाथ बोल उठे—"तो क्या बुरा कर रहा है भाई ? कृष्ण का कीर्तन जिस प्रकार तुम सुन रहे हो, उसी प्रकार उसे भी सुनने का अधिकार है।"

श्रोता मंडली मूक बनकर एकनाथ की ओर विस्मयपूर्वक देखने लगी, और एकनाथ का एक-तारा पुनः बज उठा—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण !!

रान्ना प्रतिदिन रात में अपनी पत्नी सहित एकनाथ के कीर्तन में सम्मिलित होता, और दूर पर बैठकर दीनतापूर्वक भक्त एकनाथ के मुख से भक्त वत्सल श्रीकृष्ण का गान सुना करता है।

एक दिन स्वामी एकनाथ ने श्रोता मंडली को उपदेश देते हुए कृष्ण के विराट् स्वरूप का वर्णन किया। उन्होंने कहा, "कि अर्जुन ने देखा भगवान् के विराट् स्वरूप में सारी सृष्टि समाविष्ट थी। देवता, गंधर्व, यक्ष और समस्त पशु-पक्षी।"

रान्ना व्याकुल कंठ से पूछ बैठा, "भगवान् के उस विराट् स्वरूप में क्या हम महार भी थे स्वामीजी !"

हां—एकनाथ ने स्थिर कंठ से उत्तर दिया—क्या तुम महार सृष्टि से बाहर हो रान्ना ! भगवान् के जिस विराट स्वरूप में देवता, गंधर्व और यक्ष थे, उसमें उनके पास ही तुम भी विद्यमान थे।'

एकनाथ की इस बात ने रान्ना के मन में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर दिया, कि वह भी मनुष्य है। भले ही समाज उसे

घृणा की दृष्टि से देखे, पर प्रभु की सृष्टि में वायु, जल, प्रकाश और मिट्टी पर उसका उतना ही अधिकार है, जितना किसी अन्य का।

शनैः-शनैः रान्ना का आत्म-विश्वास दृढ़ होने लगा। एक दिन उसकी स्त्री ने उससे कहा, "क्या स्वामी एकनाथ हमारे घर भोजन कर सकते हैं? मेरी हार्दिक अभिलाषा है, कि मैं एक दिन उन्हें भोजन कराऊं!"

एकनाथ, सर्वोच्च ब्राह्मण वंश जन्मधारी एकनाथ क्या रान्ना के घर भोजन करेंगे? किन्तु उन्होंने ही तो कहा था कि भगवान् के विराट् स्वरूप में देवताओं के साथ ही रान्ना भी है। जब भगवान् के विराट् स्वरूप में रान्ना को भी स्थान प्राप्त है, तब फिर उसके घर भोजन करने में एकनाथ को क्या आपत्ति हो सकती है? रान्ना ने एकनाथ के निकट जाकर अपनी स्त्री की अभिलाषा उन पर प्रगट की। एकनाथ बिना संकोच के उसकी आकांक्षा पूर्ति करने के लिये तैयार हो गये।

सुनते है, कि उसकी आकांक्षा पूर्ति करने के परिणामस्वरूप स्वामी एकनाथ को समाज ने बहिष्कृत कर दिया था।

किन्तु क्या प्रभु ने भी एकनाथ को बहिष्कृत किया होगा?

आहतों की मां

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ की बात है। क्रीमिया में अंग्रेज और रूसी सेनाएं, एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिये दानवी संहार-लीला में निरत थी। रण-भूमि शवों और आहतों से पट उठी थी। आहतों की मर्म भेदिनी करुण ध्वनि, रण-भूमि से उठ-उठकर मौन और शून्य गगन को भी विकंपित कर रही थी। चारों ओर आह कराह और गंदगी से आहतों के घावों में विषैलेपन की भयंकरता! संक्रामक रोगों के कीटाणु पांव पसार-पसारकर उड़ रहे थे, और स्वस्थ सैनिकों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनके भी शरीर तंतुओं को निर्बल बना रहे थे।

बड़ी दयनीय स्थिति थी आहत सैनिकों की! युद्ध भूमि में आहत होकर वे रण-भूमि में कराहते हुए पड़े रहते थे। न उन्हें कोई उठाने वाला, न उनके घावों में कोई मरहम-पट्टी करने वाला। समाचार-पत्रों के संवाददाताओं ने रण-भूमि में जा-जा कर उनके चित्र लिए। उन चित्रों के साथ जब उनकी मर्मभेदिनी कहानियां भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं, तो संपूर्ण ब्रिटिश जनता का हृदय आन्दोलित हो उठा। देश की रक्षा के लिये—मातृभूमि के स्वाभिमान के लिये करतल पर प्राण लेकर रण-भूमि में विचरने वालों की यह दुरवस्था। जन-जन के हृदय में करुणा का स्रोत फूट उठा; और जन-जन के मन में उनकी सेवा

के लिये व्यग्रता उत्पन्न हो उठी। किंतु क्या कोई ऐसा भी था जिसने उनकी सेवा के लिये अपने भौतिक सुखों की बलि चढ़ा दी हो? क्या कोई ऐसा भी था, जो त्याग की अंजलि में सेवा और साधना के पुष्प लेकर युद्ध-भूमि की ओर दौड़ पड़ा हो, और क्या कोई ऐसा भी था, जो उनके अग्नि के सदृश जलते हुए घावों को शीतल करने के प्रयास में आत्म-विस्मृत हो उठा हो!

हां ऐसा भी एक था, और उसका नाम है फ्लोरेंस नाइटिंगेल। नाइटिंगेल का जन्म इटली के एक संभ्रांत और वैभवशाली कुटुम्ब में हुआ था। आमोद-प्रमोद, और सुख-संपन्नता से उसका जीवन आच्छादित था, किंतु वह प्रायः मानव जीवन और उसके यंत्रणापूर्ण कष्टों के संबंध में संकल्प विकल्प किया करती थी। वह प्रायः यह सोचा करती थी, कि मानव जीवन में इतनी आधि-व्याधि क्यों है? वह क्यों रोगों से आग्रस्त रहता है, और क्यों उसे जगत में सुख-संतोष नहीं प्राप्त होता?

कारागारों के भीतर कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले बंदियों की दुरव्यवस्थाओं से उसका मन निरंतर रोया करता था। वह मन के भीतर-ही-भीतर, केवल अश्रु गिराकर ही शांत नहीं हो जाती थी, वरन् पीड़ित मानव समाज के कष्टों को कम करने के लिये प्रयत्न भी किया करती थी। उसने आधि-व्याधि पीड़ित मानव समाज के कष्टों को कम करने के लिये अस्पताल व्यवस्था चीर-फाड़ तथा चिकित्सा शास्त्र का भी अध्ययन किया। उसे जहां कहीं भी सुयोग मिलता, वह अपने अध्ययन, ज्ञान और सेवा-भावना का उपयोग किया करती थी।

क्रीमिया के युद्ध में हताहतों की सकरुण कहानियां जब

उसके कानों में पड़ीं, तब अन्यान्य मनुष्यों की भांति ही उसका हृदय करुणा से अभिसिंचित ही होकर न रह गया, वरन् वह सेविकाओं का एक दल संगठित करके शीघ्र ही तुर्की की ओर चल पड़ी।

जिस दिन उसने स्कुटारी के अस्पताल में प्रवेश किया; मानो हताहतों और रोगियों की सेवा के लिये कोई दैवी विभूति उतर पड़ी हो। अस्पताल यद्यपि मनोरम प्रकृति के मनोरम अंक में अवस्थित था, किन्तु उसका भीतरी वातावरण इतना मलिन और गंदगी से परिपूर्ण था, कि नाइटिंगेल को उससे बड़ा दुःख पहुंचा। चार मील तक फैले हुए अस्पताल के बरामदों में आहत अस्त-व्यस्त पड़े हुए चीत्कार कर रहे थे। कहीं चूहे मरे पड़े थे, तो कहीं छिपकलियां। बरामदों के कोनों से दुर्गन्ध उठ-उठकर मन को व्याकुल और घृणापूर्ण बना रही थी।

नाइटिंगेल ने दो ही चार दिनों में अस्पताल की काया पलट कर दी। हताहतों और रोगियों की अस्पताल में बाढ़-सी लग गई। यद्यपि उसके साथ थोड़ी-सी स्वयं सेविकाएं थीं, किंतु वह रंचमात्र भी विचलित न हुई। वह अपने उस छोटे से दल को ही लेकर सेवा-कार्य में जुट पड़ी। वह खाना-पीना भूलकर दिन-रात सेवा कार्य में रत रहती। विद्युत् की भांति दौड़-दौड़कर प्रत्येक आहत के पास जाती थी, और उससे दुःख-दर्द पूछती थी। उसने अपनी सेवा-साधना से अनेक ऐसे व्यक्तियों के प्राण बचाये, जिनके संबंध मे डाक्टरों ने निराशा प्रकट कर दी थी।

उसकी सेवा-साधना धन्य थी—वंदनीय थी। वह प्रत्येक आहत के निकट जाकर सुमधुर कंठ से उसका दर्द पूछती थी। आहतों की सेवा ही नहीं करती थी, उनके लिये पुस्तकों का प्रबंध करती थी, और उनकी इच्छानुसार उनके घर पत्र भी लिखकर भेज दिया करती थी। प्रत्येक रोगी और आहत सदैव

उसकी बाट देखता रहता था। जिस किसी के निकट से होकर वह निकल जाती ऐसा ज्ञात होता, मानो कोई पूजनीय देवी उसके पास से निकल गई हो।

वह स्वयं रोगियों और आहतों का निरीक्षण करती थी। उनके भोजन, निवास और वस्त्रों की व्यवस्था में वह बड़ी रुचि रखती थी। सैनिकों के वस्त्रों की स्वच्छता के लिये भी उसने व्यवस्था की थी। उसने रोगियों के लिये इंगलैंड से सहस्रों कमीजें मंगवाई, जिनका मूल्य उसने स्वयं दिया, और अपने मित्रों से भी दिलवाया।

एक वर्ष की अवधि समाप्त होते-होते उसने स्कुटारी के अस्पताल की सम्पूर्ण रूप से काया पलट कर दी। चार मील लंबे बरामदों और दालानों को उसने स्वच्छता से दिव्यलोक-सा बना दिया। अब कोई ऐसा आहत दृष्टिगोचर नहीं होता था, जिसके घाव पर पट्टी न बंधी रहती हो, अथवा जिसकी टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने और बांधने की समुचित व्यवस्था न की गई हो। खाने-पीने की वस्तुओं की भी अब अस्पताल में प्रचुरता थी।

थोड़े ही दिनों में पचास स्वयं सेविकाओं का एक नवीन दल और आ गया। इनकी सहायता की अतीव आवश्यकता थी; क्योंकि स्टोंपल के घेरे से सैकड़ों बीमार और आहतों का तांता-सा अस्पताल में लगा था। सैकड़ों ऐसे थे, जिन्हें हैजा हो गया था, और सैकड़ों के शरीर बर्फ तथा पाले से क्षत-विक्षत हो गये थे, इनमें से बहुत कम ऐसे थे, जो मृत्यु से बच सके थे। कई सप्ताह तक मृत्यु के मुख में जाने वालों की संख्या साठ प्रतिशत थी। इस भयंकर जाड़े के दिनों में लोगों ने नाइटिंगल को 'ज्योति की महिला' की उपाधि दी थी; क्योंकि निशा के अंधकार में हाथ में लालटेन लिये हुए वह बरामदों और दालानों में घूमा

करती थी, और रोगियों के बिस्तरों के पास रुक-रुककर उनकी देखभाल किया करती थी, उसकी सेवा-साधना से पुलकित होकर एक आहत सैनिक ने अपने घर पत्र लिखते हुए लिखा था—

"हम लोग सैकड़ों की संख्या में वहां पड़े हुए थे। किंतु ज्यों ही उस देवी की छाया पड़ती थी, हम सब सतुष्ट होकर, तकिया पर सिर रखकर सो जाते थे।"

स्कुटारी के अस्पताल की काया पलट कर देने के पश्चात् नाइटिंगेल क्रीमिया से रण-क्षेत्र में गई। वह रण-क्षेत्र में उन खाइयों में भी पहुंची, जिनमें आहत सैनिक सेवा और सहायता न मिलने के कारण अपनी सांसें तोड़ रहे थे। नाइटिंगेल ने अपनी सेवा-साधना से सैकड़ों को जीवन दान दिया, किंतु इस घोर परिश्रम के कारण वह स्वयं रुग्ण हो गयी। डाक्टरों ने उसे सम्मति दी, कि वह स्वदेश लौट जाये, किन्तु वह सहमत न हुई और अपने स्वास्थ्य की चिंता न करके निरंतर आहतों की सेवा-सुश्रषा में संलग्न रही।

कई वर्षों तक निरंतर साधना करने के पश्चात् जब वह स्वदेश लौटकर गई, तब उसके देश वालों ने उसका बड़ा सम्मान किया। वह देशवासियों के आदर सम्मान से बचने के लिये अपने छोटे से ग्राम में जाकर रहने लगी, और वहीं 1910 में उसका स्वर्गवास हो गया।

धन्य थी फ्लोरेंस नाइटिंगेल, जिसने रोगियों और आहतो की सेवा का जगत् में एक आदर्श-सा उपस्थित कर दिया है।

आज के दीन-बंध

यह तो सभी जानते हैं, कि जगत 'राम' मय है, पर यह जानते हुए भी लोग 'राम' को नहीं जानते—'राम' को नहीं पहचानते। इसीलिये लोग 'राम' के जगत में रहते हुए भी उसके सिद्धान्तों के पथ पर नहीं चलते। चलने की बात तो दूर रही, उसके बन्दों के साथ अनाचार करते हैं, उन्हें रौंदते हैं, कुचलते हैं, और अपने स्वार्थ के विषैले पंजों से उनकी मानवता को खींच कर बाहर निकाल देते हैं। भला 'राम' अपने बन्दों के साथ ऐसा अनाचार होते हुए कैसे देख सकता है? उसके मौन का अर्थ लोग गलत लगाते हैं। उसका मौन जगत के ऊपर वज्र बनकर गिरता है। आज संसार जो पीड़ा से कराह रहा है, उस पर 'राम' के ही मौन और धैर्य का वज्र निपतित हुआ है। यदि जगत और जगत के लोग चाहते है जीवन में शान्ति और सुख, तो उन्हें चाहिये, कि वे 'राम' के बन्दों को सताना छोड़ दें! बापू जगत के लोगों को यही तो बताने के लिये धरती पर आये थे।

बापू 'राम' के प्रतिनिधि थे। 'राम' के पुनीत आदर्शों को बताने के लिये ही बापू ने हम सब के बीच मानव-जन्म धारण किया था। यही कारण था, कि धरती पर आते ही और कुछ होश संभालते ही बापू की अपने 'राम' से पहचान हो गई, और

जब पहचान हो गई तो बापू की श्रद्धा दिनों-दिन राम के चरणों में बढ़ने लगी। अन्त में इतनी बढ़ गई, कि बापू केवल 'राम' के भरोसे पर ही रहने लगे। 'राम' के भरोसे पर क्या नहीं किया बापू ने ? अंग्रेजी सरकार की तो बात ही क्या, कई बार 'राम' के भरोसे पर बापू मौत से भी भिड़ गये थे। बापू का 'राम' भी उनकी कैसी खोज-खबर रखता था। पवित्र उद्देश्य से बापू जब-जब मौत से लड़े, उनके 'राम' ने उन्हें विजयी बनाया—यशस्वी बनाया। इस युग में बापू ने मृत्यु को पराजित करके सतयुग की मृत्यु विजय की कहानी को फिर से नवीन बना दिया—बहुत नवीन !

बापू की और 'राम' की वह पहली पहचान बाल्यावस्था थी उन दिनों बापू की, बापू बाल्यावस्था में बड़े सीधे-सादे और सरल हृदय के थे। डरते तो इतने थे, कि अकेले कहीं जाने का नाम तक नहीं लेते थे। अंधेरे में जाते हुए भी चीख पड़ते थे। कहते थे, "अन्धेरे में भूत बैठा रहता, भूत !" आखिर एक दिन उनकी नौकरानी, जिसका नाम रंभा था, बोली—"देखो, यदि तुम्हें भूत से भय लगता है, तो 'राम' का नाम लिया करो। 'राम' नाम में ऐसी अपूर्व शक्ति है, कि उसके उच्चारण से ही भूत भाग जाता है।

[illegible]

पर दिन-रात रहने वाला था, उसकी झलक उन्हें मिल गई। बापू ने रंभा के मुख से निकले हुए महामंत्र को—'राम' नाम को अपने हृदय की गांठ में कसकर बांध लिया। बापू की वह गांठ दिनों-दिन अधिक सुदृढ़ होती गई, और अन्त में इतनी सुदृढ़ हो गई, कि उसे मृत्यु भी न खोल सकी—न तोड़ सकी।

'राम' नाम का महामन्त्र ! बापू निरंतर उसका जाप किया

करते थे। उठते-बैठते, 'राम हे राम' और जंभाई या अंगड़ाई लेते हुए भी 'राम हे राम'। प्रत्येक सांस के साथ बापू के भीतर से 'राम' नाम का महामन्त्र निकला करता था, मानो इस महामन्त्र को बापू ने अपनी प्रत्येक सांस में लिपेट कर रख लिया हो। कितनी और कैसी करुणा होती थी बापू के उस 'राम' नाम के उच्चारण में। ऐसा लगता था, मानो वे अपने भीतर की सारी भक्ति-पीड़ा निकालकर रख दिया करते थे।

बापू की राम में अपार श्रद्धा थी, और वे प्रति क्षण राम के चरणों पर अपने हृदय की श्रद्धा बिखेरा करते थे। कुछ वर्ष हुए, बापू के एक भक्त ने उन्हें एक पत्र लिखते हुए लिखा—मैंने रात में एक स्वप्न देखा है। स्वप्न में मुझे श्रीकृष्ण जी दिखाई पड़े हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि "गांधी से कहो, कि अब उनका अन्त समीप आ गया है। इसलिये उन्हें चाहिये, कि वह सारे काम-धाम छोड़कर केवल ईश्वर भजन में ही लगें।" जानते हो बापू ने उनके उस पत्र का उत्तर किन शब्दों में दिया था? बापू ने लिखा "भाई मैं तो एक क्षण के लिए भी ईश्वर भजन को नहीं भूलता। पर मेरे लिये लोक सेवा ही ईश्वर भजन है। दूसरी बात, समय समीप आया है, क्या इसीलिये हम ईश्वर भजन करें? मैं तो यह मानता हूं, कि हमारी गर्दन जन्म के दिन से ही यमराज के हाथ में है। फिर ईश्वर भजन करने के लिये हम बुढ़ापे तक क्यों ठहरें? ईश्वर भजन तो हर अवस्था में हमें करना चाहिये।"

जगत के प्रत्येक काम में बापू 'राम' की ही इच्छा को मानते थे। अच्छा या बुरा चाहे कोई भी काम होता, बापू उसमें 'राम' की ही आकांक्षा का दर्शन करते थे। उनकी दृष्टि में सज्जन और दुर्जन सब में 'राम' निवास करता था। इसीलिये वे सबका समानरूप से विश्वास करते थे। उनका भी वे विश्वास

करते थे, जो उनके लिये अपने हृदय में विष छिपाये रहते थे। अफ्रीका में एक बार बापू ने एक ऐसे भी व्यक्ति पर विश्वास किया था, जो चरित्रहीन था। बापू उसकी त्रुटियों को जानते थे, किन्तु उन्हें विश्वास था, कि उनके साथ उसकी वे त्रुटियां दूर हो जायेंगी। वह स्वतंत्रतापूर्वक बापू के घर में रहा करता था। एक दिन जब बापू अपने दफ्तर में काम कर रहे थे, तो उनके नौकर ने उसके पास पहुंचकर उन्हें यह सूचना दी, कि "आप जरा घर चलकर तो देखें, आपका विश्वासपात्र साथी आपको किस प्रकार धोखा दे रहा है।" बापू ने घर जाकर देखा, तो उसे कमरे में एक वेश्या के साथ पाया। बापू का हृदय दुःख से भर गया। पर वे उसके ऊपर तनिक भी अप्रसन्न नहीं हुए। क्योंकि वह उन्हें प्रिय था, और वे हृदय से उसका सुधार करना चाहते थे। बापू ने इस घटना की चर्चा करते हुए लोगों से कहा, "ईश्वर ने मुझे बचा लिया। मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिये भगवान ने मुझे भविष्य के लिये चेतावनी देकर सावधान कर दिया, और भूलों से बचा लिया।"

अटल विश्वास था बापू का अपने राम में। राम की विश्वास-शक्ति का अंचल पकड़कर वे विपत्तियों के महासागर में कूद पड़ते थे, और छोड़ देते थे अपने जीवन की तरी को भयंकर झंझावात में। सब कुछ छूट जाये तो छूट जाये, पर राम के प्रति जो अटल विश्वास था बापू के हृदय में, वह कभी नहीं छूट सकता था—कभी नहीं! बापू उसी विश्वास की शक्ति से तो विपत्तियों के महासागर को पार कर जाते थे, और लग जाती थी उनकी जीवन-नौका कूल-किनारे पर! धन्य थे बापू, और धन्य था बापू का राम!

एक बार इनके द्वितीय पुत्र श्रीयुत मणिलाल भाई काल-ज्वर से आक्रान्त हुए। कई दिन बीत गये, पर ज्वर में कमी न हुई।

आकुलता तो इतनी थी, कि सन्निपात के से लक्षण ज्ञात होते थे। बापू ने डाक्टर से सलाह ली। डाक्टर ने कहा—"इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सकता। अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देने की आवश्यकता है।"

पर बापू के कुटुम्ब में यह कैसे हो सकता था? बापू ठहरे अहिंसा के पुजारी, और राम के अनन्य भक्त। पर उधर पुत्र के प्राणों पर संकट, पर क्या संकट से भयभीत होकर बापू अपने पथ से विचलित हो जायेंगे? नहीं, उन्होंने डाक्टर से कहा—"डाक्टर, हम सब तो अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो अपने लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी कोई वस्तु बतलाइये।"

डाक्टर ने कहा—"आपके लड़के का प्राण खतरे में है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर उससे पूरा सन्तोष नहीं हो सकता। आप तो जानते हैं, कि मैं बहुत से हिन्दू परिवारों में जाया करता हूं, किन्तु दवा के लिये हम जो चाहते हैं, वही चीज उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूं, यदि आप अपने लड़के के साथ ऐसी कठोरता न करें तो अच्छा हो!"

बेचारे डाक्टर को क्या ज्ञात था, कि बापू का परिवार उन हिन्दू परिवारों की तरह नहीं जो पग-पग पर स्वार्थ के लिए अपने सिद्धान्तों की बलि दिया करते हैं। इसके विपरीत बापू का परिवार तो ऐसा परिवार है, जो धर्म के लिए वज्र से भी भिड़ सकता है—मृत्यु से भी ताल ठोंककर मोर्चा ले सकता है! बापू ने उत्तर दिया—"आप जो कहते हैं, वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिये, पर मेरा उत्तरदायित्व भी बहुत बड़ा है। यदि लड़का बड़ा होता, तो अवश्य उसकी इच्छा जानने का भी प्रयत्न करता, और जो वह चाहता, वही उसे

करने देता, पर यहां तो इसके लिये मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूं कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक कहो, चाहे गलत; मैंने तो इसको धर्म समझा है, कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिये। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीवित रहने के लिये भी हमें बुरी वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना चाहिये। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे कुटुम्बियों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का उपयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस खतरे को देखते है, उसे मुझे उठाना ही चाहिये। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूं। आपकी चिकित्सा तो मैं नहीं करूंगा। पर मुझे बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नही आता है। जल चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उन्हीं उपचारों को मैं करना चाहता हूं, किन्तु यदि आप नियमपूर्वक मणिलाल की तबीयत देखने के लिये आते रहें तो मैं आपका आभार और उपकार मानूंगा।"

डाक्टर थे एक पारसी सज्जन—बड़े ही अच्छे विचार के। बापू की कठिनाइयों को समझकर उन्होंने उनके इच्छानुसार आना स्वीकार कर लिया। मणिलाल की अवस्था उस समय केवल दस वर्ष की थी। मणिलाल को जब बापू और डाक्टर की बातचीत से बापू के हृदय का कुछ आभास मिला; तब स्वयं उन्होंने कहा—"बापू के मन को इससे और भी साहस मिला; और वे जल-चिकित्सा करने लगे।"

किन्तु ज्वर दूर नही होता था, जब रात होती थी, तब मणिलाल बड़-बड़ाने भी लगते। कभी-कभी ज्वर 104 डिगरी तक पहुंच जाता था। बापू बड़े चिन्तित थे—बड़े आकुल थे। वे सोचा करते थे कि "यदि लड़के को वे हाथ से खो बैठे, तो संसार उन्हें क्या कहेगा? बड़े भाई क्या कहेंगे? क्यों न उन्होंने डाक्टर की बात मानी; और क्यों न उन्होंने दूसरे डाक्टरों से

सलाह ली ? मां-बाप को क्या अधिकार था, कि वे अपनी अधूरी बुद्धि की लड़के के जीवन पर परीक्षा करते।" पर जहां बापू यह सोचते वहीं दूसरी ओर उनके हृदय में यह भी गूंजा करता था—"जीव, जो तू अपने लिये करता है, वही लड़के के लिये भी कर। इससे परमेश्वर को संतोष होगा। तुझे जल चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो प्रयोग ही हैं न ! जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उस पर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।"

यद्यपि बापू के हृदय में झंझावत उठ पड़ा था; पर बापू ने अपने मार्ग को न छोड़ा। वे अपने मणिलाल को 'राम' के भरोसे पर छोड़कर धर्म पर अटल रहे, और बराबर जल चिकित्सा करते रहे। जब 'राम' पर इतनी श्रद्धा और इतना विश्वास, तब फिर राम बापू को कैसे भूल सकता था ? शनैः-शनैः मणिलाल का ज्वर कम होने लगा, और कुछ दिनों में वे पूर्णरूप से स्वस्थ हो गये। बापू ने 'राम' को धन्यवाद दिया। पर क्या बापू के धन्यवाद को राम ने ग्रहण किया होगा ? क्योंकि अपने बन्दों की खबर लेना तो वह अपना कर्त्तव्य समझता है।

बापू के 'राम' को बापू की बड़ी चिन्ता रहती थी। बापू अपने हृदय में जब उसे पुकारते थे, या जब उसकी सहायता की उन्हें आवश्यकता प्रतीत होती थी, तब वह शीघ्र बापू के पास पहुंच जाता था। एक बार बापू लाहौर से दिल्ली जा रहे थे। दिल्ली से उन्हें कलकत्ते एक सभा में भाषण देने के लिये पहुंचना था। तीसरे दर्जे का टिकट लेकर लाहौर स्टेशन पर रेलगाड़ी में बैठने के लिए खड़े हुए, पर जब गाड़ी आई तो उसमें अपार भीड़ ! बापू चिन्ता में पड़ गये। नाम तो बापू का सभी लोग जानते थे, किन्तु उनकी आकृति से सभी लोग परिचित न थे।

एक कुली पहुंचा बापू के पास। बोला, "चौदह आने पैसे दो तो गाड़ी में बिठा दूं।"

बापू को कलकत्ते पहुंचना आवश्यक था। इसलिये वे तैयार हो गये। कुली ने गठरी की तरह बापू को डिब्बे में डाल दिया। पर डिब्बे के भीतर तो तिल रखने का भी स्थान नहीं; बापू ज्यों-त्यों करके खड़े हो गये। ठेलमठेल और धक्कम-धक्का का इतना जोर था, कि बापू का शरीर चूर-चूर हो गया। पर करते क्या? दूसरों की तरह झगड़ तो सकते नहीं थे! चुपचाप एक किनारे पर खड़े रहे। आखिर कुछ देर पश्चात् कुछ लोगों का ध्यान उनकी ओर गया, और जब ध्यान गया, तो सहानुभूति भी उत्पन्न हो उठी। कोई एक बोल उठा—"बैठ क्यों नहीं जाते भाई, खड़े क्यों हो?"

पर बैठें तो कहां बैठें? आखिर कहने वाले ने खिसककर बगल में बैठा लिया। अब नाम-धाम की पूछ होने लगी। जब पता चला, कि यह गांधीजी हैं, तब सारे डिब्बे में सन्नाटा छा गया और सोये हुए लोग अपने आप उठकर बैठ गये। इस घटना की भी चर्चा करते हुए बापू ने लिखा है कि "ईश्वर ने उन्हें ऐसे समय पर सहायता भेजी, जब उन्हें सहायता की बहुत बड़ी आवश्यकता थी।

क्यों न हो, वे जब राम के भरोसे पर थे, तब 'राम' को ठीक समय पर उनकी सुधि लेनी ही चाहिये।

राम के भरोसे पर बापू मृत्यु से भी लड़ जाते थे। 1946 के वे दिन। नोआखाली में मौत चादर तानकर सोई हुई थी। गांव-के-गांव विध्वंस हो गये थे, नगर-के-नगर उजड़ गये थे, और घर हो गये थे ढीह। स्त्री, पुरुष, वृद्ध और बालक सभी हाहाकार कर रहे थे, सभी चीत्कार कर रहे थे। मृत्यु के भयानक पंजे को

देखकर किसी में साहस न होता था, कि कोई नोआखाली के भीतर अपना पैर रक्खे। मुस्लिम लीग के स्वयंसेवक हाथ में छुरा लेकर मृत्यु की विभीषिका के रूप में जाल की तरह फैले हुए थे। जाने वाले वायुयान पर जाते थे, और ऊपर से ही चलते हुए मकानों तथा चीत्कार करते हुए मनुष्यों को देखकर लौट आते थे।

पर बापू तो ऐसे लोगों में न थे, जिन्हें मृत्यु की विभीषिका भयभीत कर सकती। बापू नोआखाली के निवासियों के क्रन्दन और उनके चीत्कार को सुनकर अहिंसा की पताका लिये हुए नोआखाली में घुस गए। नोआखाली में क्या घुसे बापू, घुसे मृत्यु के घर में। मृत्यु के उस भयानक घर में घुसते हुए बापू ने एक स्थान पर कहा था—"मैं यहां अपने कुछ नवीन प्रयोग करूंगा, जिसमें मेरी अहिंसा की परीक्षा होगी। यदि मुझमें पर्याप्त साहस होगा, और उस साहस को मैं अपनी अहिंसा से मिला सका तो मैं हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों को प्रमाणित कर सकूंगा। यहां मैं अकेले गांवों का भ्रमण करूंगा। मेरे दल के सभी लोग अलग-अलग गांवों में जाकर अहिंसा तथा साम्प्रदायिक एकता का प्रचार करेंगे।"

फिर एक-दूसरे स्थान पर बापू ने कहा था—"मैं यहां सत्य और अहिंसा की परीक्षा के ही लिए नहीं, बल्कि स्वतः अपनी परीक्षा के लिये आया हुआ हूं। मेरा उद्देश्य यहां एक महीने तक रहकर अपने जीवन के महान ध्येय साम्प्रादायिक एकता के लिये अन्तिम प्रयत्न करने का है। यदि आवश्यक हुआ तो मैं अपना प्राण भी विसर्जित कर दूंगा। मेरी इच्छा यह है, कि मैं यहां एक मुसलिम लीगी के घर में उसके कुटुम्ब के एक सदस्य की तरह रहूं और मुसलमानों से सम्पर्क बढ़ाऊं!"

बापू नोआखाली के एक-एक गांव में गये, एक-एक घर में

गये। ऐसे-ऐसे गांवों में बापू गये, जो श्मशान हो गये थे, और जहां मृत्यु ने भी बापू के चरणों पर मस्तक टेक दिया। बापू ने घूम-घूमकर ऐसा 'राम धुन' गाया, कि विभीषिका सहृदयता के रूप में बदल गई, और खंजर चलाने वाले बरसाने लगे फूल! बापू विजयी होकर लौटे—महान् विजयी। पर वही विजयी बापू दिल्ली में मृत्यु की गोद में सो गये। पर क्या मृत्यु ने बापू को पराजित किया? नहीं, राम के भरोसे पर रहने वाले बापू को तो मृत्यु कभी पराजित नहीं कर सकती थी। फिर क्या, बापू स्वयं धरती वालों से ऊब गये थे?

बापू और बापू के 'राम' के अतिरिक्त इस रहस्य को दूसरा कौन जान सकता है?

